
इकाई 1 भारतेन्दु की नाट्य दृष्टि और 'अंधेर नगरी'

इकाई की रूपरेखा

- 1.0 उद्देश्य
- 1.1 प्रस्तावना
- 1.2 भारतेन्दु और विभिन्न नाट्य परम्पराएँ
- 1.3 भारतेन्दु की नाट्य संबंधी दृष्टि
- 1.4 भारतेन्दु द्वारा रचित विभिन्न नाटक
- 1.5 अंधेर नगरी की रचना
- 1.6 सारांश

1.0 उद्देश्य

एम.ए. हिन्दी के प्रथम वर्ष के पाठ्यक्रमों में से पाठ्यक्रम-4 के अंतर्गत नाटक और अन्य गद्य विधाओं का अध्ययन करेंगे। इस पाठ्यक्रम के पहले खण्ड में आपको भारतेन्दु के नाटक **अंधेर नगरी** का अध्ययन करने का अवसर मिलेगा। इस खंड की यह पहली इकाई है और इसमें हम आपको भारतेन्दु हरिश्चंद्र की नाट्य दृष्टि और 'अंधेरी नगरी' नाटक से परिचित करायेंगे। इस इकाई को पढ़ने से आप भारतेन्दु युग और भारतेन्दु हरिश्चंद्र के साहित्यिक व्यक्तित्व के बारे में उल्लेखनीय बातों से परिचित होंगे। भारतेन्दु ने जब नाटक लिखना शुरू किया था, तब हिंदी में न तो नाटक लिखे जाते थे और न ही रंगमंच उपलब्ध था, लेकिन उन्हें भारतीय, पाश्चात्य, लोक आदि विभिन्न नाट्य परंपराएँ उपलब्ध थीं। उनके संदर्भ में ही भारतेन्दु के नाटकों को समझा जा सकता है। इसलिए इन परंपराओं का उल्लेख करते हुए भारतेन्दु के नाट्य संबंधी सोच का विवेचन करेंगे। भारतेन्दु के नाटकों की परंपरा में **अंधेर नगरी** का महत्वपूर्ण स्थान है। इस परंपरा से आपको परिचित कराते हुए उनके नाटक **अंधेर नगरी** की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख कराया गया है। इकाई के अध्ययन से आपको उपर्युक्त सभी पक्षों को जानने और समझने का अवसर प्राप्त होगा। लेकिन हम आपसे अपेक्षा करते हैं कि इकाइयों का अध्ययन आरंभ करने से पूर्व आप **अंधेर नगरी** का अध्ययन कर चुके होंगे। अगर आपने नाटक नहीं पढ़ा है तो उसे जरूर पढ़ें।

1.1 प्रस्तावना

पाठ्यक्रम-4 से संबंधित खंड-1 की यह पहली इकाई है। इस खंड की अगली इकाइयों में आप भारतेन्दु युग, सामाजिक यथार्थ और व्यंग्य के रूप में **अंधेर नगरी**, उसमें अभिव्यक्त विडम्बना, **अंधेर नगरी** की भाषा, शिल्प और रंगमंचीय विशेषताओं का अध्ययन करेंगे। इनको पढ़ने से पहले आपके लिए यह जानना जरूरी है कि भारतेन्दु के समय में हिंदी नाटकों की क्या स्थिति थी? भारतेन्दु का निजी व्यक्तित्व कैसा था? उन्हें कौन-कौन सी नाट्य परंपराएँ मिली और उन परंपराओं से उन्होंने क्या लिया और क्या स्वयं नया रचा? यह सब जानने से आप **अंधेर नगरी** नाटक को अच्छी तरह समझने की ओर अग्रसर हो सकेंगे और उसका विश्लेषण और मूल्यांकन कर सकेंगे।

हिन्दी नाटक का इतिहास बहुत पुराना है। हमारे यहाँ भारतीय नाट्यकला की बहुत लम्बी और समृद्ध परंपरा मिलती है- संस्कृत नाटक और लोक नाटक की। लेकिन हिन्दी में आधुनिक युग से पूर्व नाटक की परंपरा लगभग अनुपस्थित थी। हिंदी नाटक के जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चंद्र को ही माना जाता है। भारतेन्दु से ही हिंदी के आधुनिक युग की शुरुआत होती है। आधुनिक हिंदी गद्य के वही जन्मदाता हैं। वह हिंदी के प्रथम समर्थ नाटककार हैं। यद्यपि उनसे पूर्व भी कुछ छिटपुट नाटक लिखे गए। कुछ ब्रजभाषा में, कुछ खड़ी बोली में। इनमें विश्वनाथ सिंहजू का **आनंद घन**, स्वयं भारतेन्दु के पिता गिरधर दास का **नहुष** और अमानत द्वारा रचित **इन्दरसभा** विशेष उल्लेखनीय हैं। इन तीनों नाटकों में नाटक को मंच पर पेश किए जाने योग्य बनाने, उसके अनुरूप भाषा और शिल्प का निर्माण करने की कोशिश मिलती है। भारतेन्दु सही अर्थों में पूर्ण नाटककार थे। उन्होंने नाटक को राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जागरण का माध्यम बनाया। भारतेन्दु ने जब नाटक लिखना शुरू किया तब हिंदी में नाट्य विधा संबंधी

किसी तरह का सोच उपलब्ध नहीं था, और न ही हिंदी का अपना रंगमंच था। पारसी थियेटर की शुरुआत जरूर हो चुकी थी, लेकिन उसको हिंदी रंगमंच नहीं कहा जा सकता। पारसी थियेटर द्वारा हिंदी से ज्यादा उर्दू, गुजराती, मराठी आदि नाटक खेले गये। हां, आरंभिक हिंदी रंगमंच पर इसका प्रभाव अवश्य दिखाई देता है। भारतेन्दु ने समग्र आंदोलन की तरह नाट्यविधा को लिया - नाटक लिखे, अनूदित किए, लिखवाये, उनकी समीक्षाएँ उस समय की पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित की, नाट्य मंलियाँ बनाई, उनके द्वारा जगह-जगह नाट्य-प्रदर्शन किये। भारतेन्दु ने यथार्थ चित्रण के लिए जिंदादिली और मनोरंजन को महत्वपूर्ण आधार बनाया ताकि नाटक जन मानस से जुड़ सकें। भारतेन्दु ने नये-नये प्रयोगों से यह सिद्ध किया है कि बदलते हुए लोक स्वभाव और युग की आवश्यकताओं के साथ नाटककार को भी नियमों में लचीलापन लाना चाहिए।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाटकों में **अंधेर नगरी** ऐसा नाटक है जिसकी सार्थकता और मूल्यवत्ता समय के साथ बढ़ती गयी है। आपके लिये यह जानना जरूरी है कि नाटककार भारतेन्दु और उनके नाटक **अंधेर नगरी** की ऐसी क्या मौलिकता और विशेषता है कि साहित्य और रंगमंच दोनों में यह नाटक अपने लघु आकार में भी कालजयी होता गया और नाट्य रचना एवं रंगमंच को क्रांतिकारी मोड़ देता गया। अगर हम भारतेन्दु की नाट्य दृष्टि और **अंधेर नगरी** की रचनात्मकता को समझ जाते हैं तो आगे की इकाइयों में **अंधेर नगरी** के यथार्थ, उसकी नाट्यभाषा और शिल्प, उस पर होने वाले विभिन्न रंगमंचीय प्रयोगों को समझना आसान हो जाएगा। इन बातों को ध्यान में रखते हुए हमने इस इकाई में चार बातों पर अपनी पाठ्य सामग्री को केन्द्रित किया है। 1. भारतेन्दु और विभिन्न नाट्य परंपराएँ, 2. भारतेन्दु की नाट्य संबंधी सोच, 3. भारतेन्दु द्वारा रचित विभिन्न नाटक और 4. **अंधेर नगरी** एक नाट्यरचना के रूप में। इन चारों के अध्ययन से आपको यह आधार मिल सकेगा, जिसके परिप्रेक्ष्य में आप आगे की इकाइयों में **अंधेर नगरी** का विस्तृत अध्ययन और विश्लेषण कर सकेंगे।

1.2 भारतेन्दु और विभिन्न नाट्य परम्पराएँ

भारतवर्ष में नाटक की अत्यंत प्राचीन और समृद्ध लोक परम्परा और शास्त्रीय परंपराएँ रही हैं। नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने नाटक को सर्वाधिक समणीय और "पंचमवेद" कहा है। भरतमुनि ने देश की पूर्व प्रचलित लोक परम्पराओं की पृष्ठभूमि में ही नाट्यशास्त्र रचकर नाटक को नियमबद्ध किया और उसकी सम्पूर्ण रचना-प्रक्रिया, सहयोगी कला रूप और रंगमंच पर, प्रस्तुति, प्रेक्षागृह के स्वरूप, भेद, आकार पर प्रमाणित सामग्री प्रस्तुत की। संस्कृत के नाटक तत्कालीन कला-दृष्टि और रंगमंच को स्पष्ट करने वाले हैं। उसी प्रकार लोकनाटक अपनी-अपनी स्थानीय विशेषताओं के साथ, लोकमंच और लोकपरम्पराओं के साथ चारों ओर मौजूद थे। अमानत की 'इन्दरसभा' का स्वरूप भी उस समय के इतिहास, नाटक और रंगमंच की देन था। उसके संगीत, नृत्य, भाव, रस, गतियों - प्रकारों और लचीले शिल्प ने एक मौलिक पहचान बनायी। दुःख की बात है कि शास्त्र और लोक की यह सुदृढ़ परम्परा रहते हुए भी नाटक और रंगमंच हमारे जीवन से एकदम कटता गया। मध्ययुगीन सामंती पतनशीलता ने रंगमंच के प्रति उदासीनता का भाव पैदा किया। यद्यपि इस पूरे दौर में लोक नाट्य की परंपराएँ पहले की तरह गतिमान रही। अंग्रेजी शासन की स्थापना ने पश्चिम के नाटकों और रंगमंच से हमारा परिचय कराया। इस परिचय ने हमें प्रेरित किया कि हम अपनी नाट्य परंपरा की पुनः खोज करें। वर्षों तक पारसी नाटक कम्पनियों के व्यावसायिक और सतही मनोरंजक नाट्य प्रदर्शनों का बोलबाला रहा। इसका नतीजा यह हुआ कि रचनात्मक और साहित्यिक स्तर के नाटक लिखने की कोशिशें रंगमंच से दूर हटती गईं। समीक्षक नाटक का विभाजन दो खानों में करके देखने लगे - साहित्यिक नाटक और रंगमंचीय नाटक। हमारे नाटककार लम्बे समय तक रंगमंच से कटे रहकर, नाटक की विधागत मौलिकता और जटिलता से शून्य कोरी कल्पना द्वारा नाट्य रचना करते रहे और व्यावसायिक रंगमंचीय नाटकों की प्रतिक्रिया में शुद्ध साहित्यिक नाटक लिखते रहे।

इन्हीं परिस्थितियों के बीच भारतेन्दु हरिश्चंद्र का युगांतरकारी व्यक्तित्व उभरता है जिन्होंने बड़ी तीव्रता से नाटक की माध्यमगत और कलागत विशेषताओं को पूरी तरह समझा ही नहीं बल्कि उसके लिए सामूहिक और योजनाबद्ध ढंग से काम किया। उनके सामने बहुत से कार्यभार मौजूद थे - नाट्य लेखन, अनुवाद, प्रदर्शन, राष्ट्रीय चेतना का विकास, लोकरुचि का परिष्कार, व्यवसायिक थियेटर के विरुद्ध संघर्ष। वह हिंदी की अपनी नाट्य परंपरा, नाट्य शिल्प और रंगमंच के विकास लिए संघर्षशील रहे। भारतेन्दु हिन्दी के अकेले ऐसे प्रथम नाटककार हैं जिन्होंने अपनी मौलिकता और चिन्तन को

नाटक निबन्ध और अपने नाट्य लेखन में प्रयुक्त नये प्रयोगों द्वारा प्रस्तुत किया। नाटक निबन्ध को बिना पढ़े आप भारतेन्दु की मौलिकता और हिन्दी नाट्यशास्त्र के विषय में उनके चिंतन को नहीं समझ सकते। ह परम्परा और आधुनिक दोनों स्रोतों से प्राप्त रंग-दृष्टियों को आत्मसात् करते हुए हिन्दी की अपनी रंग दृष्टि और नाट्य परंपरा का विकास करना चाहते थे। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र को उन्होंने नकारा नहीं है लेकिन उसका ज्यों का त्यों अनुसरण वह हिन्दी के लिए उपयुक्त नहीं मानते।

इस प्रकार भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने हिन्दी नाट्य परंपरा के विकास के लिए एक ओर भारत की प्राचीन संस्कृत नाट्य परंपरा से सीखा, तो दूसरी ओर उन्होंने भारत के विभिन्न प्रांतों में मौजूद लोक नाटकों की परंपरा को अंगीकार करने में भी संकोच नहीं किया। इसके बावजूद उनका नाट्य चिंतन पश्चिम की नाट्य परंपरा से प्रेरित था, जिसने भारत में आधुनिक नाट्य परंपरा के विकास का आधार बनने का काम किया था। पारसी थियेटर इसी नाट्य परंपरा का भारतीय, व्यावसायिक और लोकप्रिय स्वरूप था। इन विभिन्न परंपराओं के परिप्रेक्ष्य में ही भारतेंदु की रंग-दृष्टि और रंग-सृष्टि को समझ सकते हैं।

अतः कह सकते हैं कि भारतेंदु की नाट्य दृष्टि भारतीय और आधुनिक है, रुढ़िबद्ध नहीं। भारतेंदु मूलतः लोकधर्मी चेतना के नाटकाकार हैं लेकिन वह संस्कृत के शास्त्रीय विधान, पारसी नाटक और पश्चिम की नाट्यकला के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं है। अंधेर नगरी के अध्ययन से ही आप जान पायेंगे कि इस छोटे से नाटक में सभी परंपराओं का प्रभाव है।

1.3 भारतेन्दु की नाट्य संबंधी दृष्टि

भारतेन्दु के लिए साहित्य की रचना सोद्देश्यपूर्ण थी यद्यपि उन पर अपनी पूर्व की काव्य परंपरा का गहरा प्रभाव था, लेकिन गद्य लेखन, विशेषकर नाट्य लेखन में उनकी चिंताएँ आधुनिक थीं : अपने समय और समाज से प्रेरित। वे नाट्य लेखन को सामाजिक परिवर्तन और राष्ट्रीय जागरण का माध्यम बनाना चाहते थे। वे यह भी चाहते थे कि हिन्दी का साहित्य-संसार भी आधुनिक, उच्चकोटि का और समृद्ध हो। इसके लिए उन्होंने जो प्रयत्न किये, वह एक आंदोलन की तरह थे। भारतेंदु के नाटक लेखन में उनका बेधड़क, जिंदादिल व्यक्तित्व, और उनकी प्रगतिशील चेतना का असर आप देख सकते हैं। प्रेमचंद के यथार्थवाद और निराला की क्रांतिकारिता, विद्रोह और जागरण की ज़मीन भारतेंदु ने ही तैयार की थी। वह स्वयं अभिनेता, रंगकर्मी, निर्देशक और समीक्षक थे। वे सामाजिक परिवर्तन और राष्ट्रीय नवजागरण को लिए नाटक को सबसे सशक्त माध्यम मानते थे। नाटक में दृश्यात्मक और काव्यत्व को और उसके प्रत्यक्ष सौंदर्य को उन्होंने सबसे अधिक महत्व दिया जिसका प्रभाव उनके नाटकों के पूरे संरचनात्मक पक्ष पर पड़ा है। उन्होंने अपने कुछ नाटकों में अभिनय भी किया था। 'जानकीमंगल' नाटक जो बनारस थियेटर में खेला गया था (1868 ई०) में उन्होंने अभिनय किया। 'नीलदेवी' में पागल की भूमिका निभायी और बलिया में 'सत्य हरिश्चंद्र' में हरिश्चंद्र के रूप में वृहद् जनसमूह को भाव-विभोर कर दिया। वह प्रायः 'स्वांग' करते थे। कवितावर्धिनी सभा का निर्माण, पेनी रीडिंग क्लब की योजना आदि ऐसे कार्य थे जिनसे गतिशील रंगकर्म का ज्ञान होता है। भारतेंदु ने अपने संरक्षण में काशी में नेशनल थियेटर की स्थापना की। उनके मंडल के लेखकों ने काशी, प्रयाग, बिहार आदि में अनेक नाट्य मंडलियाँ स्थापित कीं। अभिनय के साथ-साथ उनका उद्देश्य चारों ओर एक सजग, रचनात्मक और कलात्मक वातवरण बनाने तथा नाटकों के प्रति स्तरीय अभिरुचि विकसित करने का था। नाटक के सृजन को उन्होंने युग की आलोचना और भविष्य की रचना के अर्थ में लिया। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने नाटकों की रचना ही नहीं की, वरन् नाटक संबंधी विस्तृत लेख लिखकर उन्होंने नाटक के बारे में अपने सुस्पष्ट विचार प्रस्तुत किए। नाटक नाम से यह लेख पुस्तक रूप में सन् 1883 में प्रकाशित हुआ था। उन्होंने यह पुस्तक नाटक लिखने वालों की सहायता के लिए लिखी थी। इस पुस्तक में उन्होंने नाट्यशास्त्र, साहित्य दर्पण, काव्य प्रकाश आदि प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के आधार पर नाटक के विभिन्न पक्षों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही उन्होंने आधुनिक नाटकों की विशेषताओं का भी उल्लेख किया है। हिन्दी के नाटककारों के लिए कौन-सी पद्धति सही है, इस पर भी उन्होंने विचार किया है। हम यहाँ नाटक के भेद-उपभेद का जो वर्णन भारतेंदु ने किया है उसको नहीं दोहराएँगे। लेकिन उनकी नाट्य दृष्टि को समझने के लिए यह जानना ज़रूरी है कि उनकी दृष्टि में नाटक का लेखन और मंचन क्यों किया जाना चाहिए तथा हिन्दी नाट्य परंपरा के विकास के लिए किस परंपरा का अनुपालन करना चाहिए। नाटकों की जिस नवीन परंपरा का वे उल्लेख करते हैं, उसे वे पश्चिम की यूरोपीय नाट्य परंपरा और बंगाला नाटकों पर उसके प्रभाव से जोड़ते हैं। वे लिखते हैं, 'आजकल यूरोप के नाटकों की छाया पर जो नाटक लिखे जाते हैं और बंगदेश में जिस चाल के बहुत

से नाटक बन भी चुके हैं, वह सब नवीन भेद में परिगणित है।" इन नवीन भेद के नाटकों के वे दो मुख्य भेद मानते हैं - "एक नाटक, दूसरा गीतिरूपक"। वे आगे लिखते हैं, "जिनमें कथाभाग विशेष और गीति न्यून हो वह नाटक और जिसमें गीति विशेष हों वह गीति रूपक।" इस व्याख्या से साफ है कि भारतेन्दु ऐसे नाटकों की कल्पना नहीं कर पाए थे, जिनमें गीत या पद्य का बिल्कुल प्रयोग न किया गया हो।

संस्कृत नाट्य परंपरा जिसे वे प्राचीन रीति की नाट्य परंपरा के रूप में प्रस्तुत करते हैं, उसकी उपयोगिता को वे न तो पूरी तरह से अस्वीकार करते हैं और न ही वे उसके अनुकरण की बात स्वीकारते हैं। वे कहते हैं, "नाटकादि दृश्यकव्य प्रणयत करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे यह आवश्यक नहीं है क्योंकि जो सब प्राचीन रीति वा पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होंगी वह सब अवश्य ग्रहण होंगी।" भारतेन्दु के इस कथन से साफ है कि वे प्राचीन नाट्य रीतियों को तब ही स्वीकार करने को तैयार है जब वे आधुनिक युग की जरूरतों के अनुरूप हों। अपनी इस बात को स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं कि "नाट्यकला कौशल दिखलाने को देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्वकाल में लोकातीत असंभव कार्य अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयहारिणी होती थी वर्तमान काल में नहीं होती।" ध्यान देने की बात है कि यहाँ भारतेन्दु प्राचीन और नवीन में जिस बिंदु को विभाजक बनाते हैं, वह है यथार्थ के प्रति दृष्टिकोण। जो लोकातीत है और जो असंभव है, वर्तमान काल में वह लोगों को स्वीकार नहीं हो सकता। यह नाटकों में यथार्थ आधारित लौकिक दृष्टि के समावेश का प्रयास है। भारतेन्दु अपने इस यथार्थवादी दृष्टिकोण को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं, "अब नाटकादि दृश्यकव्य में अस्वाभाविक सामग्री परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य मंडली को नितांत अरुचिकर है, इसलिए स्वाभाविक रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदय ग्राहिणी है, इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्यकव्य प्रणयन करना उचित नहीं है। अब नाटक में कहीं आशी, प्रभृति नाट्यालंकार कहीं प्रकरी, कहीं विलोभन, कहीं सम्फेट, पंचसंधि, वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं बाकी रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिंदी नाटक में इनका अनुसंधान करना, वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिंदी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा सम्पादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।"

यहाँ प्राचीन का पूरी तरह अस्वीकार नहीं, लेकिन नवीन को ही आधार के रूप में स्वीकार करना, यह बताता है कि भारतेन्दु नाटकों की रचना के लिए विवेकपूर्ण आधुनिक दृष्टिकोण अपनाने के पक्षधर थे। उनका आधुनिक दृष्टिकोण नाटकों के उद्देश्य में भी दिखाई देता है।

नाटकों के उद्देश्य की चर्चा वे नाटकों के नवीन भेदों के अंतर्गत करते हैं। प्राचीन संस्कृत नाटकों के बारे में चर्चा करते हुए वे उद्देश्य के बारे में कुछ नहीं कहते। लेकिन नवीन नाटकों की चर्चा करते हुए वे नाटकों के पाँच उद्देश्यों का उल्लेख करते हैं : 1) शृंगार, 2) हास्य, 3) कौतुक, 4) समाज संस्कार और 5) देशवत्सलता। नाटक के उक्त पाँच उद्देश्य इस बात के द्योतक हैं कि किस प्रकार भारतेन्दु रीतिवादी दृष्टिकोण से आधुनिक दृष्टिकोण की ओर उन्मुख हो रहे थे। देशवत्सलता को उद्देश्यों में शामिल करना इस बात को भी बताता है कि वे नाटकों का उपयोग लोगों में देश भक्ति की भावना जाग्रत करने के लिए भी करना चाहते थे। समाज संस्कार नामक चौथे उद्देश्य की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं, "समाज संस्कार के नाटकों में देश की कुरीतियों अथवा धर्म संबंधी अन्यान्य विषयों में संशोधन इत्यादि।" भारतेन्दु का दौर नवजागरण का दौर था इसलिए देश और समाज में व्याप्त कुरीतियों के विरुद्ध नाटकों के द्वारा लोगों में जागृति पैदा करना उन्हें जरूरी काम लगता था। उनका और उनके समकालीनों का लेखन इस सोच का प्रमाण भी है। इसी प्रकार पाँचवें उद्देश्य 'देशवत्सलता' की चर्चा भी अपने समय के दबाव का ही परिणाम है। अंग्रेजी दासता के अधीन रहते हुए तत्कालीन दौर के बुद्धिजीवी यह अनुभव करने लगे थे कि लोगों में यदि अपने देश के प्रति प्रेम का भाव जाग्रत किया जाए तो इससे देशोन्नति का भाव भी उत्पन्न होगा। यही कारण है कि उन्होंने लिखा कि 'देशवत्सल नाटकों का उद्देश्य पढ़ने वालों या देखने वालों के हृदय में स्वदेशानुराग उत्पन्न करना है।' समाज संस्कार और देशवत्सलता दोनों उद्देश्यों से प्रेरित कुछ समकालीन नाटकों का उल्लेख भी उन्होंने किया। कुछ स्वयं उनके द्वारा लिखे हुए और कुछ उनके समकालीन अन्य नाटककारों के द्वारा लिखे हुए। अपने नाटकों में से भारत जननी, नील देवी और भारत दुर्दशा की गणना उन्होंने देशवत्सलता के उद्देश्य से लिखे गए नाटकों में की है। इन नाटकों को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु ने देश के प्रति अनुराग के भाव को अमूर्त रूप में ग्रहण नहीं किया था। वे भारत की तत्कालीन

परिस्थितियों के प्रति लोगों को जागरूक करना चाहते थे। केवल प्रेम के लिए प्रेम नहीं वरन् देश दुर्दशा को समाप्त करने और उसे उन्नति की राह पर ले जाने के लिए वे देशवत्सलता की बात करते हैं। यही कारण है कि वे 'भारत दुर्दशा' नाटक के आरंभ में ही लिखते हैं :

अँगरेजराज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै, अति ख्यारी।
ताहू पै महँगी काल रोग विस्तारी।
दिन दिन दूने दुख ईस देत हा हा री।
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा। भारत दुर्दशा न देखी जाई।

अंधेर नगरी नाटक की गणना भी हम इस श्रेणी के नाटकों में कर सकते हैं।

आप उनके नाटकों के अध्ययन से समझ पायेंगे कि किस प्रकार अपनी इस सोच को उन्होंने नाटकों में अभिव्यक्त किया है। भारतेन्दु द्वारा बताए गए उद्देश्यों से स्पष्ट है कि वह मनोरंजन के विरोधी नहीं हैं, न हास्य को हल्की-फुल्की नगण्य चीज़ मानते हैं बल्कि जन-जागरण और लोकसुख के लिए उन्हें अनिवार्य मानते हैं। यही वज़ह है कि वह 'काव्य के सर्वगुण संयुक्त खेल को नाटक कहते हैं।' यह खेल शब्द ही भारतेन्दु और उनके युग के नाटककारों की खुश्री दृष्टि और नाट्यचिंतन को प्रस्तुत करता है। उन्होंने नाटक को खेल, तमाशा, दिल्लीगी, क्रीड़ा, कौतुक कहा है। बड़ी से बड़ी समस्या को हास्य और तीखे व्यंग्य में कहकर वह नाटक की मंचीय प्रकृति को उजागर करते हैं। नाटक के चमत्कार और उसके प्रभाव को वह समझते थे। जब वह कहते हैं कि 'देखो, यह हिंदी भाषा में नाटक देखने की इच्छा से आते हैं, इन्हें कोई खेल दिखाओ' तो एक निष्ठावान, चिंतनशील, सहज और सक्रिय रंगकर्मी का जनवादी रूप उभरता है। इसके लिए वह जनता की स्थानीय बोलियों के प्रयोग, मुहावरे, टोन, लय, उनके गीत, छंद, उनकी लोकसंस्कृति, आचार, व्यवहार ग्रहण करते हैं और जिसे आप प्रेम जोगिनी, अंधेर नगरी में देखो सकते हैं। किस तरह भारतेन्दु नाटक की प्रकृति के साथ जनता की प्रकृति और राष्ट्र की आवश्यकताओं को पहचानते चलते हैं। वह अपने कथ्य, शिल्प और कर्म को लादना नहीं चाहते कि देखो यह मैंने किया है। भारतेन्दु के नाटक इस अहं से मुक्त हैं। उनके लिए साहित्यिकता कोई आरोपित पक्ष नहीं है, न रंगमंचीयता अलग से कोई लादा गया बाह्य तत्व। दोनों की सूक्ष्म आंतरिक संगति का सर्वोत्तम उदाहरण आप भारतेन्दु के नाटकों में देखेंगे।

1.4 भारतेन्दु द्वारा रचित विभिन्न नाटक

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के लिए नाट्य रचना कर्मक्षेत्र में जुटने जैसी थी। उन्होंने नाटक लिखकर न सिर्फ साहित्य की सेवा की बल्कि हिन्दी भाषा को उन्नत करने तथा हिन्दी नाट्य-कला और रंगमंच का विकास करने का ऐतिहासिक कार्य किया। उन्होंने युग की आवश्यकताओं को पहचान कर नाटक लिखे। अपने बहुमुखी व्यक्तित्व के साथ भारतेन्दु ने नाट्यरचना के क्षेत्र में अद्भुत सृजनशीलता और गम्भीरता का परिचय दिया है। कविता, निबन्ध आदि विधाओं में लिखते हुए भी नाट्य विधा की ओर उनका विशेष झुकाव दिखाई देता है। भारतेन्दु नाटकों के द्वारा जनता को नवजागरण की दिशा में संस्कारित करना चाहते थे। वे जानते थे कि दृश्य काव्य होने की वजह से नाटक जनता को जागृत करने का सशक्त माध्यम हो सकता है। वे स्वयं अभिनेता और निर्देशक भी थे इसलिए नाटकों का इस दृष्टि से उपयोग करने में अधिक सक्षम थे। उन्होंने प्रचुर नाट्य साहित्य की रचना की जो मौलिक भी हैं और अनूदित भी। नाटकों के लेखन में उन्होंने अपनी जागरूक चेतना और आधुनिक दृष्टि का परिचय दिया है। शिल्प और शैली के विविध प्रयोगों और साथ ही भाषा की बनावट और शक्ति के प्रति भी वह सजग थे। उनके सभी नाटकों में उनकी मौलिकता और विशिष्टता दिखायी देती है। भारतेन्दु ने निम्नलिखित नाटकों की रचना की हैं:

मौलिक नाटक

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873), विषस्य विषमौषधम् (1875), प्रेमजोगिनी (1875), सत्य हरिश्चन्द्र (1875), चन्द्रावली (1876), भारत दुर्दशा (1876), भारत जननी (1877), नीलदेवी (1880), अन्धेर नगरी (1881), और सती प्रताप (1884)।

छायानुवाद

विद्यासुन्दर (1868, बंगला से)

अनूदित

रत्नावली (1868), पाखंड विडम्बन (1872), धनंजय विजय (1873), मुद्राराक्षस (1875) कर्पूरमंजरी (1876), और दुर्लभबन्धु (1880)

भारतेन्दु के नाटकों के अध्ययन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उन्होंने नाटकों के कथानक, चरित्र, भाषा, शिल्प और रंगमंच के बारे में गहन रूप से विचार किया था। वह हिन्दी नाटक के स्वरूप को भी विकसित कर रहे थे और अपने समय से भी उसे जोड़ रहे थे। पुरानी रूढ़ियों, अंधविश्वासों को तोड़ते हुए उनके सभी नाटक प्राचीन प्रचलित रीतियों के अन्धानुकरण का विरोध करते हैं। वस्तुतः वह नाटक का जातीय रूप विकसित करना चाहते थे इसीलिए नाटकों की विषयवस्तु यथार्थवाद के नजदीक है। उन्होंने निबंध के साथ ही नाटकों में भी प्रहसन को आवश्यक माना है। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति एक प्रहसन है। इस नाटक का उद्देश्य यथार्थ के उद्घाटन और व्यंग्य द्वारा जीवन में आई विकृतियों के प्रति जनता को सचेत करना है। अपने लघु आकार में भी यह प्रहसन पूर्ण नाटक की विशेषताओं से युक्त है। सभी पात्र प्रतीकात्मक और व्यंग्य-चरित्र है।

विषय **विषमौषधम्** संस्कृत की भाषा शैली में लिखा गया एक-पात्रीय नाटक है। भारतेन्दु अपने समय के राजाओं की व्यभिचार-लीला और प्रजा शोषण देख रहे थे। ये राजा ही देश की परतंत्रता के कारण बने। भारतेन्दु ने सामन्त वर्ग की स्वार्थ लालुपता और अंग्रेजों की कूटनीति को एक साथ पहचाना है और एक-पात्रीय नाटक की एकरसता को कहावतों, चुटकुलों, मुहावरों, पदों, श्लोकों, व्यंग्य, हास्य से मनोरंजक बनाया है।

प्रेमजोगिनी भी काशी के पाखंड भरे रूप का यथार्थवादी नाटक है। यह काशी के बहाने सामंती संस्कृति के पतन का नाटक है। यह नाटक के क्षेत्र में भारतेन्दु का नया प्रयोग है। हर अंक में नये पात्र आते हैं, अतः एक ही पात्र के कई बार अभिनय करने की संभावनाएँ बनती हैं।

सत्य हरिश्चन्द्र नाटक रीति-कालीन शृंगार रस के प्रति असन्तोष से उपजा है। यह नाटक नवयुवकों में चरित्र और आदर्श स्थापित करने के उद्देश्य से लिखा गया। **सत्य हरिश्चन्द्र** क्षेमेश्वर के चण्डकौशिक नाटक के आधार पर लिखा गया है। यद्यपि उसका रूप, उसकी भाषा की सरसता और भावात्मकता, उसके सरस पद्य सब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के हैं। **सत्य हरिश्चन्द्र** की रचना कर वह देश का जन-मानस गर्व से भरना चाहते थे, उसे चारित्रिक उत्थान का माध्यम बनाना चाहते थे। इसके शिल्पविन्यास में भी पाश्चात्य शैली के प्रभाव के साथ ही उनकी मौलिकता भी दिखाई देती है। यह नाटक भारतीय जनता के धैर्य और अथाह करुणा का प्रतीक है।

चन्द्रावली प्रेम और भक्ति की स्त्री पात्र प्रधान नाटिका है। इसमें सूर, मीरा, रसखान जैसे कवियों के भक्तिकाव्य का सा आनंद मिलता है। **चन्द्रावली** को रासलीला के लोकनाट्य रूप में लिखा गया है। राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति के उपासक भारतेन्दु का अखण्ड परमानन्द चन्द्रावली के अनन्य प्रेम और भक्ति के द्वारा व्यक्त हुआ है।

भारत दुर्दशा अंग्रेजी राज्य की अप्रत्यक्ष आलोचना है और भारतेन्दु की देश-भक्ति और निर्भीकता का, सहृदयता और वीरता का प्रमाण है। उनकी राजनीतिक सूझबूझ, प्रहसन-कला, करुणा, व्यंग्य और यथार्थ का सजीव चित्रण इसमें मिलता है। प्रतीकात्मक पात्रों के द्वारा उन्होंने अपनी बात कहने की सफल कोशिश की है। लोकधर्मी चेतना और प्रयोगशीलता के कारण **भारत दुर्दशा** आज भी प्रासंगिक है। यह लचीले शिल्प का नाटक है। उसमें पारसी रंगमंच और नौटंकी लोक नाट्य रूप का अद्भुत मिश्रण है।

भारत जननी भी भारतवर्ष की तत्कालीन परिस्थितियों के आधार पर लिखा गया काव्य-नाटक है। **चन्द्रावली** और **भारत जननी** में गीतिनाट्य का सूत्रपात देखा जा सकता है।

भारत दुर्दशा के तुरन्त बाद लिखा गया **नीलदेवी** नाटक भी स्त्री प्रधान और पहला दुखान्त नाटक है। भारतेन्दु देश में फैले इस भ्रम को दूर करना चाहते थे कि भारत में स्त्रियों की दशा बहुत खराब रही है। **नीलदेवी** के महत्वपूर्ण गुण हैं - उसके सरस, मधुर गीत और भारतेन्दु के प्रहसन, जिन्दादिली और तीव्र अभिनयात्मकता की शैली। **नीलदेवी** के गीत आधुनिक दृष्टि से "नाट्यसंगीत" और "नाट्यगीत" का सुन्दर उदाहरण है।

अंधेर नगरी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की नाट्यकला का चरमोत्कर्ष हुआ है। प्रहसन और व्यंग्य-कला का इतना चुटीला और सजीव रूप उनकी सजगता और मानव जीवन में उनकी गहरी पैठ का परिणाम है। जन-प्रचलित एक छोटी सी लोकोक्ति के आधार पर रचित यह छोटा नाटक अपने भीतर समग्र वर्तमान सन्दर्भ छिपाये हुए है। एक लोककथा में नये प्राण फूँकना और लोकजीवन और राजनीतिक चेतना को एक-दूसरे के करीब लाते हुए उनमें निहित यथार्थ को व्यंग्य के द्वारा व्यक्त करना भारतेन्दु की मौलिकता है। **अंधेर नगरी** भारतेन्दु के समय का ही नहीं हमारे समय का भी यथार्थ है।

सती प्रताप में सती सावित्री के कथानक को लेकर भारतीय नारी की चेतना और आदर्श को प्रस्तुत किया गया है ताकि पुरुषों में नवीन जागरण उत्पन्न हो सके। भारतेन्दु इसके केवल चार दृश्य ही लिख पाये थे। बाद में बाबू राधाकृष्णदास ने इसे पूरा किया था।

अनूदित नाटकों में भी भारतेन्दु का निश्चित लक्ष्य था। हर्षकृत संस्कृत नाटिका **रत्नावली** का हिन्दी अनुवाद उनका प्रथम अनुवाद था, उसे वह शकुन्तला के बाद श्रेष्ठ पठनीय कृति मानते थे। इस अनुवाद में मूल संस्कृत छन्दों के साथ स्वयं उन्होंने भी छंद बनाए थे। **पाखण्ड विडम्बन** कवि कृष्ण मिश्र कृत **प्रबोध चन्द्रोदय** के तीसरे अंक का अनुवाद है। एक अंक की कथावस्तु को नया नाम देकर एक स्वतंत्र रचना के रूप में अनुवाद करना भारतेन्दु की मौलिक दृष्टि का परिचायक है। इसके प्रतीकात्मक पात्र **भारत दुर्दशा** का ही आरंभिक रूप है। भाषा अनुवाद की सी नहीं लगती। प्रहसन के द्वारा भारतेन्दु अपने सब लक्ष्य पूरे करते हैं। **धनंजय विजय** वीर-रस प्रधान ओजपूर्ण नाटक है। इसके भरत-वाक्य में वह कजरी, तुमरी आदि की रूढ़िवादी लीक को छोड़कर नये साहित्य और कविता की राह पर चलने को कहते हैं।

मुद्राराक्षस संस्कृत के नाटककार विशाखदत्त का एक राजनीतिक नाटक है। नायक नायिकाओं की शृंगार लीलाओं से हटकर प्राचीन और नवीन परम्पराओं के समन्वय के द्वारा इस नाटक से भारतेन्दु प्रमाणित करना चाहते थे कि शृंगार रस के बिना भी विचारोत्तेजक महान नाटक की रचना की जा सकती है। आज के सांस्कृतिक जीवन में भी **मुद्राराक्षस** का महत्व है। चाणक्य की कूटनीतिक दृढ़ता और नैतिकता दर्शनीय है। घटनाओं और पात्रों के अर्द्धन्द का चित्रण और सम्पूर्ण कथा का संयोजन बहुत सुन्दर हुआ है। इस नाटक का अनुवाद और भी अधिक जीवन्त एवं मौलिक है। एक प्रकार से यह अनुवाद की भाषा और स्वरूप का मौलिक उदाहरण है। संस्कृत और पाश्चात्य नाटक-कला का समन्वय कर भारतेन्दु हिन्दी नाटक कला का स्वरूप निर्माण करने के प्रति भी सचेष्ट दीखते हैं। यह नाटक साहित्य और रंगमंच दोनों के लिए अनुकरणीय है।

कर्पूर-मंजरी कवि राजशेखर द्वारा प्राकृत भाषा में रचित **कर्पूरमंजरी** का अनुवाद है। इसमें राजदरबार का सुन्दर व्यंग्यात्मक चित्र है। शृंगार रस के लिए मूल गीतों के स्थान पर हिन्दी के रीतिकालीन कवियों के शृंगार प्रधान गीतों का प्रयोग उनकी मौलिकता है। **दुर्लभबन्धु** शेक्सपीयर के प्रसिद्ध नाटक **मरचेन्ट ऑफ वेनिस** का अनुवाद है। भारतेन्दु ने पात्रों के नाम, स्थान, कथा, संवाद आदि में परिवर्तन करके उसका भारतीयकरण किया है। इस नाटक द्वारा सच्ची मित्रता और धनिकों के हृदय की क्रूरता दिखाना उनका उद्देश्य है।

विद्यासागर यतीन्द्र मोहन ठाकुर के बंगला नाटक का अनुवाद है। यह एक प्रेमकथा है। कथा-विन्यास और चरित्र-चित्रण में मानसिक अर्द्धन्द भी और घटनाओं का उतार-चढ़ाव दोनों व्यक्त हुए हैं। इस प्रकार पाश्चात्य शैली का प्रभाव इस नाटक से सामने आता है। यह एक रोमांटिक नाटक है जिसमें रोमियो-जूलियट प्रेम में असफल होने के कारण प्राण नहीं देते, बल्कि अन्त में मिल जाते हैं।

सभी अनूदित नाटकों को पढ़ने से यह स्पष्ट होता है कि भारतेन्दु नाटकों का चयन सोच-समझ के साथ करते थे। वे अपनी परम्परा, अपने युग, हिन्दी की नाट्यकला और भाषा का संस्कार करने में अनुवादों का महत्व समझ रहे थे। अनुवाद क्षेत्र भी उनके व्यक्तित्व और व्यापक मानवीय संवेदना और कला-कौशल का प्रतीक है।

1.5 अंधेर नगरी की रचना

अंधेर नगरी अपने संक्षिप्त कलेवर में गंभीर, सांकेतिक, मनोरंजक और कालजयी नाटक है। उसके कथा-स्रोतों पर आलोचक कई प्रकार के विचार प्रकट करते रहे हैं। **अंधेर नगरी** की कथा कोई नयी नहीं है। श्री रामदीन सिंह ने उसकी प्रस्तावना में कहा है कि दक्षिण में पारसी और मराठी नाटक वाले अन्धेर नगरी का प्रहसन खेला करते थे। कुछ विद्वान इस कथा को लोकप्रसिद्ध कथा भी कहते हैं। (देखें, **भारतीय नाट्यसाहित्य** : सं. डॉ. नगेन्द्र, **भारतेन्दु के नाटक** : डॉ. सत्येन्द्र, पृ. 285-286) यह भी कहा गया है कि यह नाटक 1881 ई. में किसी ज़मींदार को लक्षित करके नेशनल थियेटर के लिए एक ही बैठक में लिखा गया था। (ब्रजरत्न दास का मत है कि बिहार प्रांत के किसी ज़मींदार के अन्यायों को लक्ष्य करके उसे सुधारने के लिए तथा नेशनल थियेटर में अभिनीत किये जाने के लिए इसकी रचना हुई थी : **भारतेन्दु हरिश्चन्द्र**, पृ. 163-164) एक ही रात में भारतेन्दु ने एक सामान्य लोकोक्ति "अन्धेर नगरी चौपट्ट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा" को इतना व्यंग्यात्मक सार्वजनीन और सृजनात्मक अर्थ दे दिया। रंगमंडली के अनुरोध पर लिखा गया यह नाटक भारतेन्दु के नाट्यकर्म की तीव्रता और गंभीरता को प्रस्तुत करता है और यह सोचने पर विवश करता है कि साहित्य, रंगमंच और विश्वजनीन संदर्भों का कैसे इतना सघन और अंतरंग रिश्ता बन जाता है।

आलोचक लंबे समय तक **अंधेर नगरी** की गणना एक सामान्य प्रहसन के रूप में करते रहे लेकिन 1960 के बाद रंग-प्रस्तुतियों के साथ समीक्षा-दृष्टि बदली। इस नाट्यरचना को हिन्दी की समकालीन संदर्भों की विलक्षण रचना, विसंगति, व्यंग्य और विडम्बना का नाटक और एक सार्वभौमिक महाकाव्यात्मक नाटक कहा जाने लगा। ऊपर से अनगढ़, बेतुका, एब्सर्ड लगता हुआ भी यह नाटक अपनी रचनाशीलता से निरन्तर नवीन सौंदर्यबोध की सृष्टि करता गया है। कबीर, निराला, मुक्तिबोध, नागार्जुन, भुवनेश्वर की रचनाओं की समग्र विशेषताएँ इस एक लघु आकार की नाट्यरचना में मिल जाती हैं। यदि इस नाटक में कबीर की अखड़ता है तो निराला का विद्रोही तेवर भी। मुक्तिबोध का अनगढ़पन है, तो नागार्जुन की व्यंग्यात्मकता भी। यदि इसमें भुवनेश्वर के नाटकों में निहित यथार्थ की विडम्बना है तो इन सबके साथ स्वयं भारतेन्दु की जिंदादिली भी। भारतेन्दु के इस नाटक में भविष्य की रचनाओं के सर्वोत्कृष्ट सूत्र नज़र आते हैं। यह भारतेन्दु के कथा विन्यास, संयोजन, संरचना, जीवंतता और भाषा की रवानगी का सौंदर्य है। **अंधेर नगरी** संक्षिप्त कथा प्रसंगों का, नाटकीय स्थितियों का और दृश्यों की रचना और उनके कुशल संयोजन का समकालीन नाटक है। इसमें रोचकता और जिज्ञासा तत्व भी बना रहता है और व्यंजनाओं की गंभीरता और तीखापन भी।

रचना के 'समर्पण' में जब भारतेन्दु कहते हैं 'मान्य योग्य नहीं होत कोऊ कोरो पद पाए' तो वह अपना जीवन-दर्शन व्यक्त करते हैं। 'समर्पण' के बाद भारतेन्दु का संस्कृत श्लोक भी बेहद व्यंजक है। इस श्लोक में मानों **अंधेर नगरी** की कथा का सूत्र छिपा हुआ है। युग-दृष्टि और व्यंग्यात्मकता भारतेन्दु के लेखन की केंद्रीय विशेषता है, जिसने **अंधेर नगरी** को प्रहसन होते हुए भी प्रहसन मात्र नहीं बनने दिया बल्कि प्रहसन के बहाने उन्होंने अपने समय के यथार्थ का विडम्बनात्मक रूप प्रस्तुत किया है। इस नाटक में तत्कालीन राजसत्ता के दमनकारी चरित्र की सांकेतिक अभिव्यक्ति है और सामान्य जनता की शक्ति का चित्रण भी। भारतेन्दु **भारत दुर्दशा** और **अंधेर नगरी** के द्वारा सुधारवाद का कार्य ही नहीं करते, न यथार्थ-चित्रण करके मुक्त हो जाते हैं बल्कि उन्होंने एक आशावादी दृष्टि से मोहग्रस्त, रूढ़िग्रस्त, आपसी फूट से खंडित, प्रसुप्त देशवासियों को जागृत करने का काम किया है। यह रचना व्यापक स्तर पर उदासीनता और जड़ता को तोड़ने और मुक्ति की मानसिकता तैयार करने का काम करती है। आगे की इकाइयों में **अंधेर नगरी** के कथ्य, संरचना, भाषा और रंगमंचीय स्वरूप को समझने के बाद आप सरलता से अनुभव कर पायेंगे कि **अंधेर नगरी** वर्तमान अवरोधों के ध्वंस का और परिवर्तन की प्रक्रिया का नाटक है। भारतेन्दु ने समग्र राजनीतिक, सांस्कृतिक दृष्टिकोण के साथ यह नाटक रचा है जिससे यह एक नयी सामाजिक-राजनीतिक आत्मसजगता का प्रेरक, प्रगति में विश्वास का नाटक बन जाता है। यहाँ परिवर्तनों के प्रति सकारात्मक दृष्टि ही सर्जनात्मक नाट्य दृष्टि और गंभीर हास्य

और सार्थक व्यंग्य को जन्म देती है। **अंधेर नगरी** में जनचेतना की अभिव्यक्ति है, उनकी संघर्ष-क्षमता है ठोस यथार्थ का व्यंजक-मनोरंजक रूप है, पर उसे हम न सुधारवादी कहेंगे, न पुनरुत्थानवादी, न किसी विचारधारा के तहत लिखा गया नाटक। परिवर्तन की जरूरत को ध्यान में रखते हुए भारतेन्दु जनता तक प्रभावशाली रूप में पहुँच सकने वाली विधा नाटक द्वारा साहित्य को ठोस-सक्रिय दिशा देना चाहते थे। यह नाट्य रचना नाट्य विधा की सामाजिकता और सामूहिकता का प्रमाण है।

अंधेर नगरी को व्यापक संदर्भों, विसंगतियों, विकृतियों की संश्लिष्ट और व्यंजक नाट्य रचना मानते हुए यह समझना भी आवश्यक होगा कि किसी भी रचना में शाश्वत सौंदर्य केवल कथानक और उद्देश्य से नहीं आता। उसमें उसकी संरचना, भाषा, शिल्प और अन्य विशेषताएँ भी कार्य करती हैं। अब आपके लिए यह जानना जरूरी है कि **अंधेर नगरी** की भाषा और शिल्प की विशेषताएँ क्या-क्या हैं और ये विशेषताएँ नाटक के कथ्य को किस हद तक प्रभावित करती हैं।

1.6 सारांश

भारतेंदु की नाट्य दृष्टि और **अंधेर नगरी** नामक इस इकाई में आपने देखा कि किस तरह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटक के दृश्यात्मक पक्ष और लोकपक्ष को समझते हुए नाटकों की रचना की। उनके लिए नाटक साहित्य भी था और रंगमंच भी। वह नाटक को समाज और राष्ट्र के जागरण और युग-परिवर्तन का सशक्त माध्यम मानते थे। आपने यह भी जाना कि भारतेन्दु को पूर्वप्रचलित और अपने युग की विभिन्न नाट्य परंपराएँ मिलीं जिनका प्रभाव उनके लेखन पर दिखाई देता है। पश्चिम की नाट्य रचना का आधार लेते हुए उन्होंने मुख्य रूप से लोकधर्मी चेतना को अपनाया। आप यह भी जान चुके हैं कि भारतेन्दु ने अनेक मौलिक नाटक भी लिखे और भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी के नाटकों के अनुवाद भी किये। उनकी रचनाओं से आपको स्पष्ट हो गया होगा कि वह स्वाधीन चेतना के नाटककार थे। भारतीय नाट्य परंपरा हो या पाश्चात्य, उनका अनुसरण करना मात्र उनका उद्देश्य नहीं था। वह बदलते युग और रुचि के अनुसार हिन्दी नाट्यकला का विस्तार करना चाहते थे। अपनी यह दृष्टि उनके **नाटक** निबन्ध में दिखाई देती है। भारतेन्दु के लिए नाटक सोद्देश्य था। उन्होंने मनोरंजन पक्ष और रंगमंचीय पक्ष को कभी हेय नहीं माना। आपको यह बताया गया है कि **अंधेर नगरी** अपने संक्षिप्त कलेवर में प्रहसन होते हुए भी, अपनी व्यापक अर्थवत्ता की वजह से कालजयी नाटक है। लोकोक्ति के आधार पर लिखा गया यह नाटक अपनी कथावस्तु, भाषा, संरचना, जीवन्तता और जिंदादिली में कितना अद्भुत है, इन पर आगामी इकाइयों में विचार किया जाएगा।

अभ्यास

1. भारतेंदु के नाटक संबंधी सोच की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं? यह सोच **अंधेर नगरी** की रचना में व्यक्त हुआ है या नहीं, स्पष्ट कीजिए।
2. नाट्य रचना को प्रोत्साहित करने के पीछे भारतेंदु का उद्देश्य क्या था? **अंधेर नगरी** के संदर्भ में इस पर अपने विचार लिखिए।

इकाई 2 सामाजिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में 'अंधेर नगरी'

इकाई की रूपरेखा

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 भारतेंदु युगीन समय
- 2.3 अंधेर नगरी में व्यक्त यथार्थ
- 2.4 अंधेर नगरी और भारतेंदु का वैचारिक परिप्रेक्ष्य
- 2.5 व्यंग्य और विडंबना के रूप में अंधेर नगरी
- 2.6 सारांश

2.0 उद्देश्य

पिछली इकाई में आपने भारतेंदु के नाटककार व्यक्तित्व, उनको मिली विभिन्न नाट्य परंपराओं, भारतेंदु की नाट्य संबंधी सोच, भारतेंदु द्वारा रचित विभिन्न नाटकों और एक नाट्य रचना के रूप में अंधेर नगरी के बारे में जाना। प्रस्तुत इकाई में आप सामाजिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में अंधेर नगरी का अध्ययन करेंगे।

अंधेर नगरी में व्यक्त सामाजिक यथार्थ का संबंध स्वयं भारतेंदु के समय से है, यद्यपि उसकी प्रस्तुति सामंती व्यवस्था के ढाँचे में हुई है लेकिन यह ढाँचा सिर्फ बाहरी है। नाटक की अंतर्वस्तु का गहरा संबंध भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय की भारत की विशिष्ट परिस्थितियों से है। वह समय कैसा था और उसकी अभिव्यक्ति नाटक में किस रूप में हुई है, इसकी चर्चा आप इस इकाई में पढ़ेंगे। साथ ही अंधेर नगरी में व्यक्त यथार्थ के स्वरूप पर भी इकाई के प्रकाश डाला जाएगा ताकि आप उसकी पहचान कर सकें।

अंधेर नगरी सिर्फ नाटक ही नहीं है, वह एक राजनीतिक नाटक भी है। इस दृष्टि से भी नाटक पर इस इकाई में विचार किया गया है और यह जाँचने की कोशिश की गई है कि नाटक में व्यक्त राजनीतिक दृष्टि की विशेषता क्या है। अंधेर नगरी का व्यंग्य बड़ा तीक्ष्ण है और उसमें यथार्थ में निहित विडम्बना का मार्मिक चित्रण भी हुआ है। नाटक को व्यंग्य और विडंबना की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में भी विवेचित करने का प्रयास इकाई में किया गया है ताकि नाटक की आंतरिक शक्ति को पहचाना जा सके।

2.1 प्रस्तावना

एम.ए. हिंदी के अनिवार्य पाठ्यक्रम-4 'नाटक तथा अन्य गद्य विधाएँ' से संबंधित खंड-1 की यह दूसरी इकाई है। पहली इकाई में हमने भारतेंदु हरिश्चंद्र की नाट्य दृष्टि उनके नाटकों तथा अंधेर नगरी की रचना के बारे में अध्ययन किया था। आपने पढ़ा था कि जब भारतेंदु ने नाटक लिखना शुरू किया था, तब हिंदी में नाटकों की कोई परंपरा मौजूद नहीं थी। कहना चाहिए कि हिंदी में नाटकों की शुरुआत का श्रेय भारतेंदु को ही जाता है। भारतेंदु को नाटक की परंपरा तीन क्षेत्रों से प्राप्त हुई पश्चिमी नाट्य परंपरा, संस्कृत नाट्य परंपरा और लोक नाट्य परंपरा। इस नाटक पर हम इन तीनों का प्रभाव देख सकते हैं। अंधेर नगरी की रचना भारतेंदु ने क्यों की और उसकी प्रासंगिकता क्या है, इस पर भी पहली इकाई में विचार किया गया है। एक सौ से अधिक साल पहले लिखे जाने के बावजूद भी यह नाटक आज भी उतना ही लोकप्रिय है।

इस खंड की तीसरी इकाई में अंधेर नगरी के नाट्यशिल्प की विशेषताओं, उसके रूप विधान, उसकी भाषा और उस की बुनावट, उसके रंगमंचीय लचीलेपन और रंगमंच पर होने वाले विभिन्न प्रयोगों का अध्ययन करेंगे। लेकिन इनको पढ़ने से पहले आपके लिए यह जानना आवश्यक है कि भारतेंदु युग की सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियाँ क्या थी? उस युग की सांस्कृतिक आवश्यकताएँ क्या थी और उस परिप्रेक्ष्य में अंधेर नगरी में व्यक्त यथार्थ क्या है? अंधेर नगरी में व्यक्त राजनीतिक दृष्टि कहाँ

तक वर्तमान संदर्भों और विश्वजनीन स्थितियों का संकेत करती है? अंधेर नगरी नाटक तत्कालीन विसंगतियों का इतना तीखा चित्रण करता है कि वह मूलतः व्यंग्य और विडंबना का नाटक लगने लगता है। इन सारी बातों को समझने पर ही आप नाटक का समकालीन संदर्भों में विश्लेषण और मूल्यांकन कर सकेंगे। इन व्यंजनाओं और संभावनाओं को जानने पर ही आप आगे इस नाटक के शिल्प, भाषा, रंगमंचीय सौंदर्य की गहनता को, उनके संयोजन और सांकेतिकता को समझ सकेंगे।

2.2 भारतेन्दु युगीन समय

भारतेन्दु का जन्म सन् 1850 में हुआ था। जब वे सात साल के थे, तभी देश में अंग्रेजों के विरुद्ध पहला स्वतंत्रता संग्राम लड़ा गया था। सन् 1885 में भारतेन्दु का देहांत हो गया। यह वही साल है जब कांग्रेस की स्थापना हुई थी और जिसके नेतृत्व में देश ने सन् 1947 में आजादी प्राप्त की थी। भारतेन्दु का समय इन्हीं दो ऐतिहासिक घटनाओं के बीच का समय है। हिंदी साहित्य के इतिहास में भारतेन्दु युग के नाम से यही काल जाना जाता है। 1857 का संग्राम यद्यपि देशी सामंतशाही के नेतृत्व में लड़ा गया था, लेकिन इसमें भारत की, विशेष रूप से उत्तर भारत की किसान जनता ने भी सक्रिय रूप से हिस्सा लिया था। 1857 का विद्रोह असफल रहा। लेकिन देश की बागडोर ईस्ट इंडिया कंपनी के हाथ से निकलकर सीधे ब्रिटेन की महारानी और वहाँ की संसद के हाथ में आ गई थी। अंग्रेजों के आगमन से भारत में राजसत्ता का स्वरूप बदलने लगा। यद्यपि देश अब भी छोटी-बड़ी रियासतों में बँटा था, लेकिन देश की केंद्रीकृत सत्ता पर अंग्रेजों का वचस्व बढ़ता जा रहा था। देश के कई हिस्से सीधे अंग्रेजों के अधीन थे, तो कई ऐसे सामंतों के अधीन जिन्होंने अंग्रेजों के शासन के मातहत रहना स्वीकार कर लिया था।

अंग्रेजों ने ऊपर से नीचे तक राजसत्ता के ढाँचे को बदलना शुरू कर दिया था। स्थानीय स्तर पर जमींदारी प्रथा का विस्तार हुआ, जिसने किसानों की दशा को पहले से अधिक दयनीय बना दिया। यह जमींदारी प्रथा किसानों को ऐसी पैदावार के लिए मजबूर कर रही थी, जिनसे देशी जमींदारों और विदेशी शासकों को लाभ था, लेकिन जिसकी वजह से किसानों का शोषण और उत्पीड़न बेतहाशा बढ़ गया था। इसके साथ ही अंग्रेजों ने इंग्लैंड में बने माल की बिक्री सुनिश्चित करने के लिए, देशी उद्योगों को नष्ट करना शुरू कर दिया। कई बड़े औद्योगिक केंद्र जो मुगल काल में विकसित हुए थे, अंग्रेजों के राज में धीरे-धीरे नष्ट होने लगे। दूसरी ओर, यूरोप इंग्लैंड में उद्योगीकरण की जो प्रक्रिया आरंभ हुई थी, उसका असर भारत पर भी पड़ा। एक ओर भारत से कच्चा माल एकत्र करने और उसे भारत से बाहर ले जाने की जरूरत थी, तो दूसरी ओर इंग्लैंड और यूरोप का बना माल भारत के विभिन्न हिस्सों तक पहुँचाने की। यही कारण था कि भारत में अंग्रेजों ने रेल यातायात की शुरुआत की। रेल सिर्फ एक नये तरह के परिवहन का साधन ही नहीं थी, बल्कि उसने आधुनिकीकरण और औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया को भी गति प्रदान की। कार्ल मार्क्स ने इस संबंध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा था कि 'रेलवे का प्रादुर्भाव भारत में आधुनिक उद्योगों के आगमन का पूर्वसूचक है।' उन्नीसवीं सदी के मध्य में नील, चाय, काफी के क्षेत्र में कई उद्योग स्थापित हुए। 1850 और 1855 के बीच सूती कपड़ों के कारखाने, जूट की मिलें और कोयला खानों की स्थापना हुई। 1879 में भारत में 56 सूती कपड़ा मिलें स्थापित हो चुकी थी। 1882 में जूट की 20 मिलें लग चुकी थीं और 1880 में 56 कोयला खदानें काम कर रही थीं।

इसी दौर में उस आधुनिक शिक्षा का प्रसार हुआ जिसने राष्ट्रव्यापी और सुधारवादी आंदोलनों पर गहरा असर डाला। भारत में आधुनिक शिक्षा का प्रसार ब्रिटिश सरकार ने अपनी राजनीतिक, आर्थिक और प्रशासनिक जरूरतों के चलते किया। मैकाले जैसे अंग्रेज शासकों का विचार था कि अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा भारतीयों को पूरी तरह पश्चिमी सभ्यता में रंगा जा सकेगा और उन्हें सदा के लिए राजभक्त बनाया जा सकेगा। लेकिन अंग्रेज शासकों की यह इच्छा एक सीमा तक ही पूरी हुई। इस शिक्षा ने एक हद तक भारतीयों को पश्चिमी सभ्यता के विकृत रूप में रंगा, उन्हें अंग्रेजों जैसा बनने की प्रेरणा भी दी। लेकिन यह शिक्षा धर्म निरपेक्ष, उदारवादी और ब्रिटिश शासन से पहले की शिक्षा पद्धति के विपरीत जाति और धर्म का ख्याल किये बिना सर्वसुलभ थी। शिक्षा के प्रभाव को रेखांकित करते हुए प्रसिद्ध समाजशास्त्री ए.आर.देसाई लिखते हैं, 'भारतीय राष्ट्रवाद ने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में एक राष्ट्रीय आंदोलन का रूप लिया। उस वक्त तक देश में एक शिक्षित वर्ग तैयार हो गया था और भारतीय उद्योगों के उदय के साथ ही भारतीय औद्योगिक बुर्जुआजी का भी जन्म हो चुका था। इन्हीं वर्गों ने राष्ट्रीय आंदोलन का संगठन किया और अपनी विरोधी पताका में निम्नांकित नारे लिखे, सरकारी

नौकरियों का भारतीयकरण, भारतीय उद्योगों के लए सुरक्षा, वित्तीय स्वायत्तता आदि। आर्थिक और अन्य क्षेत्रों में ब्रिटिश और भारतीय हितों के संघर्ष के कारण यह आंदोलन शुरू हुआ।

इस आधुनिक शिक्षा ने उस बुद्धिजीवी वर्ग को पैदा किया जिसने राष्ट्रीय मुक्ति और समाज सुधार आंदोलन में न केवल महत्वपूर्ण भूमिका निभाई वरन् उसका नेतृत्व भी किया। उन्होंने, 'राष्ट्रीयता और जनतंत्र की भावनाओं से ओतप्रोत संपन्न प्रादेशिक साहित्य और संस्कृति की सृष्टि की। इसके बीच से महान वैज्ञानिक, कवि, इतिहासकार, समाजशास्त्री, साहित्यिक, दार्शनिक और अर्थशास्त्री उत्पन्न हुए। प्रगतिशील बुद्धिजीवी वर्ग ने आधुनिक पाश्चात्य जनतांत्रिक संस्कृति का स्वांगीकरण किया और नवजात भारतीय राष्ट्र की जटिल समस्याओं को समझा। 'भारतेंदु हरिश्चंद्र इसी प्रगतिशील बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं।

बुद्धिजीवी वर्ग ने अपने विचारों को लोगों तक पहुँचाने के लिए कई तरीकों का इस्तेमाल किया। उन्होंने कई राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक संगठन बनाए, समाचारपत्र और पत्रिकाओं का प्रकाशन किया और उनके माध्यम से लोगों में नई चेतना और नये विचारों का प्रचार-प्रसार किया। स्वयं भारतेंदु ने कई पत्रिकाओं का प्रकाशन किया और अपने समकालीन लेखकों को पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन और उनमें लिखने के लिए प्रेरित किया।

19वीं सदी में जो नया समाज बन रहा था, उसकी जरूरतें वही नहीं थीं, जो उससे पहले के समाज की थीं। इन नयी आवश्यकताओं की पहचान उस नये बौद्धिक वर्ग ने की जो उस दौर में उभर रहा था। उसने समाज में से पुरानी रूढ़ियों, मान्यताओं और आचरणों को समाप्त करने के लिए अनथक प्रयास किया। क्योंकि उनका विश्वास था कि इसके बिना राष्ट्र की उन्नति असंभव है। समाज सुधार के बारे में प्रबुद्ध वर्ग का दृष्टिकोण उदार, विवेकशील और लोकतांत्रिक भावनाओं पर आधारित था। जैसे उन्होंने वर्ण व्यवस्था और जातिवाद का विरोध किया। स्त्री की हीन-दशा से जुड़ी प्रथाओं को समाप्त कराने का संघर्ष किया जिनमें सती प्रथा, बाल विवाह, बहु विवाह, बालिका वध आदि शामिल हैं। उन्होंने स्त्री-शिक्षा, विधवा विवाह आदि का समर्थन ही नहीं किया वरन् इसके लिए संस्थाएँ भी स्थापित कीं।

1857 के संघर्ष की असफलता ने सामंती शासन की पुनः स्थापना का विकल्प हमेशा के लिए खत्म कर दिया था। लेकिन इसी दौर में परिस्थितियाँ नये ढंग से सामने आ रही थीं जिसने 1870 के बाद नये राजनीतिक उभार को जन्म दिया और जिसकी परिणति 1885 में कांग्रेस की स्थापना में हुई। इस दौर की उस विशेष स्थिति पर रोशनी डालते हुए ए.आर.देसाई लिखते हैं, '1857 के विद्रोह के परवर्ती काल में किसानों का असंतोष लगातार बढ़ गया क्योंकि ब्रिटिश शासन में वे अधिकाधिक विपन्न होते गये थे। भू-राजस्व और लगान के बढ़ते हुए बोझ का उन पर बड़ा बुरा असर पड़ा था। 1870 तक हस्तशिल्प और कारीगर उद्योग पूरी तरह खत्म हो गए थे जिसके चलते कृषि संकुलता बढ़ी। 1870 के कृषि संकट के फलस्वरूप किसानों की स्थिति और भी बुरी हुई और उनमें ऋणग्रस्तता बढ़ी। 1867 और 1880 के बीच कई अनर्थकारी दुर्भिक्ष पड़े। दूसरे अफगान युद्ध के वित्तीय बोझ और 1877 के असंयत, अतिव्यापी, भव्य और चमत्कारिक दिल्ली दरबार जिसमें विक्टोरिया को भारत साम्राज्ञी घोषित किया गया, के कारण लोगों का असंतोष और रोष बढ़ा ही, खासकर इसलिए कि यह दुर्भिक्ष और भुखमरी का जमाना था। फिर 1878 के वर्नाक्युलर प्रेस एक्ट जो भारतीय प्रेस की स्वतंत्रता पर रोक लगाने के निमित्त पारित किया गया था, और 1879 के इंडियन प्रेस और आर्म्स एक्ट के कारण लोगों के असंतोष की ज्वाला प्रज्वलित हुई।' इन्हीं परिस्थितियों के बीच भारतेंदु और उनके समय के दूसरे लेखक लिख रहे थे। राष्ट्रीय असंतोष की जिस भावना को इस दौर में डब्ल्यू.सी.बनर्जी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, आर.सी.दत्त, दादा भाई नौरोजी, जस्टिस रानाडे, गोपालकृष्ण गोखले आदि व्यक्त कर रहे थे, उसी असंतोष को अपने ढंग से भारतेंदु युग के लेखक भी व्यक्त कर रहे थे और अंधेर नगरी की रचना इन्हीं परिस्थितियों में इसी असंतोष की अभिव्यक्ति के लिए हुई थी।

जैसा कि हमने कहा है, भारतेंदु युगीन समय में ध्यान देने योग्य बात है एक ओर भारतीय किसानों और सिपाहियों का राष्ट्रीय विद्रोह और दूसरी ओर राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म। राष्ट्रीय विद्रोह का स्वर क्रांतिकारी है और राष्ट्रीय कांग्रेस का सुधारवादी। इसलिए विचारणीय है कि भारतेंदु के साहित्य में कौन सा स्वर प्रमुख है? क्या वह 1857 के राष्ट्रीय विद्रोह की चेतना का विकास है या 1885 की कांग्रेस की सुधारवादी चेतना के अधिक निकट है? वस्तुतः भारतेंदु युग का संबंध इस द्वैतात्मक चेतना

से है जब भीतर ही भीतर बहुत तेजी से नवीन मौलिक दृष्टि राजनीतिक क्रांति के रूप में मुखर हो रही थी जिसे हम **भारत दुर्दशा, अंधेर नगरी** में सीधे देख सकते हैं। भारतेन्दु ने अपने प्रहसनों में इस साम्राज्यवादी व्यवस्था को बड़ी निर्ममता से उघाड़ा है। भारतेन्दु ने अपने पारिवारिक संस्कारों से निरंतर संघर्ष करते हुए रुढ़िग्रस्त देशवासियों को साम्राज्यवाद के विरुद्ध जगाने का साहसिक कार्य किया। अंग्रेजी राज में सुख, समृद्धि, शक्ति एवं व्यवस्था का उन्होंने खूब मजाक उड़ाया। तत्कालीन परिस्थितियों में भारतेन्दु ने साहित्य और जनता को निकट लाने का गंभीर दायित्व निभाया। अंग्रेज राज की दमनकारी व्यवस्था में उनके पास मिथक और प्रहसन ही एक रास्ता था, **अंधेर नगरी** से यह प्रमाणित हो जाता है। भारतेन्दु युग में जो तीखा प्रहसनात्मक व्यंग्य, अपने समय के प्रति गहरी आलोचनात्मक समझ और वैचारिक संघर्ष पनप रहा था उसी में भविष्य के बीज मौजूद हैं। सत्ता और व्यवस्था के परिवर्तन की आकांक्षा और जनसामान्य के शोषण का विरोध उनके नाटकों में व्यक्त हुआ।

2.3 'अंधेर नगरी' में व्यक्त यथार्थ

अंधेर नगरी में कोई बहुत बड़ा या गंभीर कथानक नहीं है। जो है भी वह एक दृष्टान्त की तरह सामने आया है। महन्त अपने शिष्यों गोवर्धनदास और नारायण दास को लोभी वृत्ति से बचे रहने का उपदेश देकर सुंदर नगर में भेजता है। गोवर्धन शहर के रंग ढंग से बहुत प्रभावित होता है। वह उसी नगर में रहना चाहता है, लेकिन महन्त उसे सावधान करते हैं। लेकिन वह नहीं मानता। गोवर्धन उस बाजार के आकर्षण में आनन्द-विभोर हो जाता है जहाँ हर चीज टके सेर बिकती है। वह उसी नगर में रहने लगता है और मिठाई व दूसरी चीजों का भरपूर उपभोग करता है। वहाँ के राजदरबार में एक मुकदमा आता है। मुकदमे का विस्तृत वर्णन उस राज्य व्यवस्था की न्याय प्रक्रिया का असली चेहरा सामने ला देता है। दिवार गिरने से बकरी की मौत का मुकदमा गोवर्धन दास को फाँसी देने के फैसले पर खत्म होता है। गोवर्धन का बकरी की मौत से दूर-दूर तक संबंध नहीं है। लेकिन जिस व्यक्ति को फाँसी दी जानी है, उसका गला फाँसी के फंदे के नाप का नहीं है और न्याय की मांग है कि अपराध की सजा तो दी ही जानी चाहिए इसलिए खा-खाकर मुटियाया हुआ गोवर्धन पकड़ लिया जाता है। अपने को निरपराध पकड़े जाने पर गोवर्धन को अपने गुरु की याद आती है। वह उनका स्मरण करता है। महन्त वहाँ पहुँचते हैं, जहाँ गोवर्धन को फाँसी चढ़ाई जानी है। दोनों इस बात पर लड़ने लगते हैं कि फाँसी पर वह चढ़ेगा। राजा उनके झगड़े को समझ नहीं पाता और जानना चाहता है कि वे क्यों लड़ रहे हैं। तब महन्त बताता है कि, 'इस समय ऐसी साइत है कि जो मरेगा सीधा वैकुंठ जाएगा।' इस बात पर सभी फाँसी चढ़ने के लिए उतावले होने लगते हैं। लेकिन वैकुंठ जाने के लालच में राजा स्वयं को फाँसी पर चढ़ाए जाने का आदेश देता है। **अंधेर नगरी** के इस अतिरंजित या अयथार्थ लगने वाले कथानक में मौजूद व्यंग्य को दर्शक शीघ्र ही पहचानने लगते हैं। **अंधेर नगरी** की संपूर्ण कथा को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं। पहले भाग में **अंधेर नगरी** का चित्रण। दूसरे भाग में मुकदमे की कार्रवाई और तीसरे भाग में गोवर्धन को फाँसी चढ़ाए जाने का दृश्य। **अंधेर नगरी** में व्यक्त यथार्थ को समझने के लिए हमें इन तीनों पर विचार करना होगा क्योंकि इसी प्रक्रिया में हम **अंधेर नगरी** की अंधी अव्यवस्था का वास्तविक अर्थ समझ सकते हैं।

अंधेर नगरी समसामयिक संदर्भों का जीवन्त नाटक है। कुछ रचनाएँ अपनी प्रासंगिकता हमेशा सिद्ध करती रहती हैं। बदलते परिवेश और बदलती परिस्थितियों में उनके नये-नये अर्थ उद्घाटित होते रहते हैं। इस नाटक का अर्थ न तो एक देश और न एक काल तक सीमित है। इस नाटक में निहित राजनीतिक व्यंग्य जितना अंग्रेजों के शासनाधीन भारत के लिए सच था, उतना ही आज के स्वतंत्र भारत के लिए। भारतेन्दु ने एक ऐसे राजा की कहानी कही है, जिसके राज्य में प्रत्येक वस्तु का मूल्य समान था। जहाँ सोना और मिट्टी की कीमत एक थी। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि जहाँ सोना मिट्टी के भाव बिकता हो, वहाँ के लोगों को दरिद्रता और भुखमरी का सामना नहीं करना पड़ता होगा। लेकिन 'टके सेर भाजी टके सेर खाजा' जनता के हित का सूचक नहीं था, बल्कि राज्य की अविवेकपूर्ण कुव्यवस्था का सूचक था। **अंधेर नगरी** का चौपट राजा अविवेकपूर्ण राजसत्ता का प्रतीक है, जिसे नौकरशाही मनमाने ढंग से चलाती है। *भीतर स्वाहा बाहर सादे। राज करहिं अमले अरु प्यादे॥* **अंधेर नगरी** की राजसत्ता क्या काल्पनिक है या भारतेन्दु के समय के भारत का यथार्थ है?

हमने पिछले भाग में भारतेंदु के समय पर विचार किया है **अंधेर नगरी** की अंतर्वस्तु की तुलना अगर भारतेंदु के समय के साथ की जाए तो **अंधेर नगरी** में व्यक्ति यथार्थ की विशेषताओं को पहचाना जा सकता है।

अंधेर नगरी की कथा सामंतशाही राज्य व्यवस्था के साथ संबद्ध है। लेकिन नाटक की प्रस्तुति लोकनाट्य शैली में है। अंग्रेजों का राज सामंतशाही राज्य व्यवस्था से कुछ हद तक भिन्न था। यद्यपि अब भी जनता अधिकार विहीन थी, लेकिन राज्य व्यवस्था का संचालन करने वाली व्यापक नौकरशाही एक नयी बात थी। इसके उत्पीड़न की कहीं सुनवाई नहीं थी। वे क्षेत्र जो सीधे अंग्रेजी शासन के अधीन नहीं थे, उन पर शासन करने वाले देशी शासक भी वैसे ही उत्पीड़क और अन्यायकारी थे। भारतेंदु ने **अंधेर नगरी** में अपने दौर के इस यथार्थ को ही प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। भारतेंदु के लिए यह तो आसान नहीं था कि वे अंग्रेजी राज्य व्यवस्था की खुलकर आलोचना करते। लेकिन **अंधेर नगरी** में उन्होंने विभिन्न अवसरों पर कभी स्पष्ट रूप से और कभी सांकेतिक रूप में अपनी बात कही है। नाटक के दूसरे दृश्य में जहाँ बाजार का दृश्य प्रस्तुत किया गया है, वहाँ विभिन्न सामग्री बेचने वाले लोग ग्राहकों को आकृष्ट करने के लिए जो बात कहते हैं उनमें उन्होंने अपने समय का खाका भी प्रस्तुत किया है और उसकी आलोचना भी। इस आलोचना की दो विशेषताएँ हैं - एक तो, तत्कालीन नौकरशाही की तीखी आलोचना और दूसरी, भारतवासियों को अपनी कमजोरियों के प्रति आगाह करना।

नौकरशाही की तीखी आलोचना

नौकरशाही की आलोचना करते हुए भारतेंदु ने उनकी रिश्तखोरी, जनता के प्रति विद्वेष और उत्पीड़न की नीति, टैक्स लगाकर उनके जीवन को मुश्किल बनाना आदि को खासतौर पर रेखांकित किया है। 'चना जोर गरम' बेचने वाला 'घासी राम' कहता है :

चना हाकिम सब जो खाते। सब पर दूना टिकस लगाते।

चूरन बेचने वाला 'पाचक वाला' कहता है :

चूरन अमले सब जो खावें। दूनी रुशवत तुरत पचावें।

चूरन साहब लोग जो खाता। सारा हिंद हजम कर जाता।

चूरन पुलिस वाले खाते। सब कानून हजम कर जाते।

इसी प्रकार पाँचवें दृश्य में गोवर्धन दास 'राग काफी' में जो गीत गाता है उसी में यह भी कहा गया है:

भीतर स्वाहा बाहर सादे, राज करहिं अमले अरु प्यादे।

अन्धाधुन्ध मच्चौ सब देसा, मानहुं राजा रहत विदेसा।

उक्त पंक्तियाँ अत्यंत सारगर्भित हैं। अंग्रेजों का राज 1857 के बाद ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया के हाथ में आ गया था। लेकिन विक्टोरिया के नाम पर राजसत्ता पर वास्तविक अधिकार अंग्रेज नौकरशाही के पास था। विक्टोरिया तो लंदन में ही वास करती थी। भारतेन्दु युग के दौर में भारतीय मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों का यह विश्वास था कि महारानी विक्टोरिया का भारत की शासक होना ईश्वरीय वरदान है, लेकिन भारतवासियों पर जो भी उत्पीड़न और अत्याचार हो रहा है, उसके लिए नौकरशाही ही जिम्मेदार है। यही कारण है कि भारतेन्दु महारानी विक्टोरिया या उनके शाही परिवार की अम्यर्थना का कोई भी अवसर नहीं चूकते। मसलन **मुद्राराक्षस** नाटक का यह अंश द्रष्टव्य है :

पूरी अमी कटोरिया सी, चिरजीओ सदा विक्टोरिया रानी।

सूरज चंद प्रकास कर जब लौं, रहै सात हू सिंधु में पानी।

राज करौ सुख सौं तब लौं निज, पुत्र औ पौत्र समेत सयानी।

पालौ प्रजागन को सुख सौं जग, की रति मान करै गुन गानी।

लेकिन साथ ही वे अंग्रेज राज की नौकरशाही (जिनमें वे राजे-रजवाड़े और जमींदारों को भी शामिल करते हैं) की आलोचना भी करते हैं। यह अंतर्द्वंद्व अकेले भारतेन्दु में ही नहीं था बल्कि उस दौर के प्रायः सभी देशभक्त बुद्धिजीवियों और लेखकों में विद्यमान था।

अंधेर नगरी में भारतेन्दु ने इसी नौकरशाही की कुव्यवस्था का चित्र प्रस्तुत किया है। कुछ तो सीधे-सीधे संवादों के माध्यम से और कुछ कथा की अंतर्वस्तु में सांकेतिक अभिव्यक्ति के माध्यम से। अंधेर नगरी में राजव्यवस्था के चित्रण में एक तरह की व्यंग्यात्मकता निहित है। गोवर्धनदास को पहली नजर में राज्य अत्यंत सुखकर लगता है क्योंकि वहां हर चीज़ एक ही दाम पर बिकती है। लेकिन जब वह निरपराध पकड़ा जाता है और उसे फांसी का हुक्म हो जाता है, तो राजसत्ता का वास्तविक चरित्र उसके सामने आता है। राजसत्ता का बाहरी चरित्र कुछ और है तथा आंतरिक चरित्र कुछ और। यह द्वैत ही अंधेर नगरी को भारतेन्दु युग के राजनीतिक यथार्थ से जोड़ता है।

नौकरशाही के चरित्र को भारतेन्दु ने मुकदमे वाले प्रसंग द्वारा भी व्यक्त किया है। वस्तुतः न्याय की प्रक्रिया का यह चित्र अयथार्थ प्रतीत होता हुआ भी अपने अर्थ में यथार्थ में निहित विडंबना को प्रभावशाली रूप में व्यक्त करता है। नाटक के चौथे दृश्य का आरंभ राजसभा से होता है। सेवक राजा से चिल्लाकर कहता है कि 'पान खाइए, महाराज' तो राजा उसके चिल्लाने से डर जाता है और मंत्री को आदेश देता है कि वह सेवक को सौ कोड़े लगाए। इस पर मंत्री सेवक का बचाव करते हुए दोष तमोली पर थोपता है - "न तमोली पान लगाकर देता, न यह पुकारता।" इस पर राजा तमोली को दो सौ कोड़े लगाने का आदेश देता है। मंत्री फिर बात बदलता है और राजा को सुपनखा को सजा देने का परामर्श देता है। राजा और मंत्री के बीच की यह बातचीत राजा की मूर्खता और मंत्री की चतुराई का उदाहरण है। राजा के पास शक्ति है, लेकिन बुद्धि और विवेक का अभाव है। मंत्री उसकी मूर्खता और शक्ति का इस्तेमाल अपने बौद्धिक बल से करता है। निर्णय लेने और आदेश देने का अधिकार राजा के पास है, लेकिन निर्णय लेने और आदेश देने का वास्तविक अधिकार मंत्री के पास है क्योंकि राजा उसी के कहे अनुसार निर्णय करता है। इस प्रकार मंत्री राजा से अधिक ताकतवर दिखाई देता है, वास्तविक सत्ता उसी के हाथ में है। बकरी के मरने का मुकदमा इसी सच्चाई को व्यंग्यात्मक रूप में प्रकट करता है। यहाँ मंत्री तब तक राजा की मूर्खताओं को ढील देता रहता है, जब तक कि मामला उसके हाथ से नहीं निकलता। जब राजा कोतवाल से जवाबतलब करता है और मंत्री को यह आशंका होती है कि 'ऐसा न हो कि बेवकूफ - इस बात पर सारे नगर को फूंक दे या फाँसी दे।' तो वह अपने हस्तक्षेप द्वारा मामले को कोतवाल की सजा पर ही खत्म करवा देता है। इस प्रकार राजा का कथित न्याय नौकरशाही के हथकंडों से तय होता है। राजा के इस फैसले के क्रियान्वयन का भार भी नौकरशाही पर है। कोतवाल को फांसी देने का काम नौकरशाही को करना है। कोतवाल उसी नौकरशाही का हिस्सा है। जाहिर है फाँसी उसे नहीं दी जा सकती, तर्क है - कोतवाल की गर्दन फांसी के फंदे से बहुत छोटी है।

'हुक्म हुआ कि मोटा आदमी पकड़ कर फांसी दे दो, क्योंकि बकरी मारने के अपराध में किसी न किसी को सजा होनी जरूरी है, नहीं तो न्याय न होगा।'

राजा के इस बदले हुए फैसले के अनुसार मोटे आदमी की तलाश शुरू हो जाती है। न्याय की यह पूरी प्रक्रिया झूठ और दिखावे के सिवा कुछ नहीं है। अंधेर नगरी में न्याय के नाम पर जो कुछ घटित होता है, उसका संबंध क्या तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था से नहीं था? यह अंधेर नगरी कौन सी है और यह चौपट राजा कौन है? भारतेन्दु ने क्यों इसी कथा को प्रहसन के लिए चुना?

2.4 'अंधेर नगरी' और भारतेन्दु का वैचारिक परिप्रेक्ष्य

अंधेर नगरी इसलिए अंधेर नगरी नहीं है क्योंकि वहाँ का राजा बुद्धिहीन है और नौकरशाही चालाक। अंधेर नगरी इसलिए भी अंधेर नगरी है क्योंकि भारतेन्दु के अनुसार उसमें धर्म और अधर्म में अंतर नहीं किया जाता। ऊँच और नीच में भेद नहीं किया जाता। कुल-मर्यादा का लोप हो गया है। अंधेर नगरी का यह जो चित्रण है, यह काल्पनिक नहीं है। यह लेखक की अपने समय की समझ है। लेकिन अपने समय की भारतेन्दु की इस आलोचना को समझने की आवश्यकता है। भारतेन्दु ने अपने युग को किस रूप में समझा है और उनकी आलोचना का परिप्रेक्ष्य क्या है? क्या भारतेन्दु का युग ऐसा ही था और इसे अंधेर नगरी नाम दिया जाना उचित है? आइए, अंधेर नगरी में अपने युग की भारतेन्दु की आलोचना का जायजा लें।

भारतेन्दु के इस प्रहसन में पैसा केन्द्रीय महत्व की चीज है। टके सेर भाजी, टके सेर खाजा का केंद्रीय स्वर इसी सच्चाई को व्यक्त करता है। ब्राह्मण के मुख से भी भारतेन्दु ने इसी सच्चाई को उजागर किया है।

एक टका दो, हम अभी अपनी जात बेचते हैं। टके के वास्ते ब्राह्मण से घोबी हो जाएं और घोबी को ब्राह्मण कर दें, टके के वास्ते, जैसी कहो, वैसी व्यवस्था दें। टके के वास्ते झूठ को सच करें। टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके के वास्ते हिन्दू से क्रिस्तान। टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनों बेचें।

उपर्युक्त संवाद 'टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' के कथन को नया अर्थ देता है। अब मतलब सभी वस्तुओं के एक दाम से नहीं है, वरन् हर चीज बेची और खरीदी जा सकती है, इससे है। यह विशेषता युग के बदलने की सूचक है और पूर्व से भिन्नता को दर्शाने वाली केंद्रीय विशेषता है। पैसे के इस महत्व ने समाज में पूर्व विद्यमान मूल्य व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर दिया है। अंग्रेजों ने जो राज्य व्यवस्था कायम की यह उस नयी व्यवस्था की केंद्रीय पहचान है। भारत में जो सामन्तशाही पहले विद्यमान थी, उसमें धर्म, जाति, लिंग आदि के आधार पर समाज में मनुष्य की प्रतिष्ठा थी। लेकिन अब प्रतिष्ठा का यह आधार समाप्त हो रहा था। इसका स्थान पूंजी (या पैसे) ने ले लिया था। लेकिन पूंजी के वर्चस्व के इस युग में धर्म, जाति, लिंग के भेद समाप्त हो रहे थे। सभी मनुष्य बराबर हैं उनमें भेदभाव किया जाना अनुचित है, यह विचार तेजी से फैल रहा था। भारतेन्दु संभवतः इस नये दृष्टिकोण को पूरी तरह स्वीकार नहीं कर पा रहे थे। यही कारण है कि तीसरे दृश्य में वे महन्त से कहलाते हैं :

सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास
ऐसे देस कुदेस में, कबहूँ न कीजै बास
कोकिल, बायस एक सम, पण्डित मूरख एक
इन्द्रायन दाड़िम विषय, जहाँ न नेकु विवेक

इन पंक्तियों से यह जाहिर है कि वे इस राज्य व्यवस्था की आलोचना इस बात को लेकर कर रहे हैं कि यहाँ विवेक के आधार पर मनुष्य मनुष्य में अंतर नहीं किया जा रहा है। यहाँ मूर्ख और पंडित में, कौवे और कोयल में अंतर करने का विवेक नहीं है। ऐसी व्यवस्था जिसमें इस तरह का विवेक न हो, निश्चय ही कुव्यवस्था कहलाएगी। लेकिन इस विवेक का वैचारिक आधार क्या हो, यह सवाल उठना भी स्वाभाविक है। इसका उत्तर हमें प्रहसन के पाँचवें दृश्य में मिलता है। इस दृश्य की शुरुआत गोवर्धनदास के गीत से होती है। इस गीत की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

नीच ऊँच सब एकहि ऐसे। जैसे भडुए पंडित तैसे॥
कुल मरजाद न मान बड़ाई। सबै एक से लोग लुगाई॥
जात पांत पूछै नहि कोई। हरि को भजे सो हरि को होई॥
वेश्या जोरु एक समाना। बकरी गऊ एक करि जाना॥

.....
धर्म अधर्म एक दरसाई। राजा कौर सो न्याव सदाई॥

.....
गो द्विज श्रुति आदर नहिं होई। मानहुँ नृपति विधर्मि कोई॥
ऊँच नीच सब एकहि सारा। मानहुँ ब्रह्म ज्ञान बिस्तारा॥

गीत की इन पंक्तियों को अगर हम तीसरे दृश्य के दोहों के साथ रखकर पढ़ें तो हमें स्पष्ट हो जाएगा कि राज्य व्यवस्था की उनकी आलोचना का वैचारिक आधार क्या है? यहाँ वे उस सामंती व्यवस्था के टूटने का दुख प्रकट कर रहे हैं, जो वर्ण व्यवस्था और ब्राह्मणवाद पर आधारित थी। ऊँच-नीच के बीच व्याप्त होने वाली एकता की आलोचना इसी वर्णवादी दृष्टिकोण से की जा रही है, जिसको 'कुल मरजाद' (कुल मर्यादा) के खत्म होने की बात कहकर दोहराते हैं। अगली पंक्ति में वे फिर जात-पाँत के खत्म होने की पीड़ा व्यक्त करते हैं और जब वे कहते हैं कि 'गाय, ब्राह्मण और धार्मिक ग्रंथों के प्रति आदर नहीं रह गया है, मानो कोई विधर्मी राजा हो', तो वे स्पष्ट रूप से पुराणपंथी ब्राह्मणवाद के प्रति घटते सम्मान पर ही दुख व्यक्त कर रहे हैं। यहाँ भारतेन्दु द्वारा प्रस्तुत की गई भावना कमोबेश वैसी ही है, जैसी तुलसीदास के 'रामचरित मानस' में कलियुग वर्णन के रूप में मिलती है। यह भारतेन्दु पर पुनरुत्थानवाद के स्पष्ट प्रभाव का द्योतक है।

लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वे तत्कालीन राज्यव्यवस्था की आलोचना सिर्फ पुनरुत्थानवादी दृष्टि से ही करते हैं बल्कि इस नाटक में उन्होंने अंग्रेजी राज की उन बुराइयों का उल्लेख भी किया है जो शोषणवादी व्यवस्था की सूचक है। मसलन वे लिखते हैं कि इस अंधेर नगरी में सच्चे लोगों को कोई नहीं पूछता, वे बिचारे इधर-उधर भटकते रहते हैं, जबकि जो छल कपट वाला है, उसका वर्चस्व कायम है। जो बाहर से तो सभ्य नज़र आते हैं, लेकिन जिनके दिल में छल कपट भरा है, राजा की सभा में उन्हीं का बोलबाला है, वे ही ज्यादा शक्तिशाली हैं, उन्हीं को तरह-मरह के पद हासिल हैं। जहाँ छली लोग एकजुट हैं, उनकी जितनी भी आलोचना की जाए लेकिन उन पर कोई असर नहीं होता। भारतेन्दु इस बात पर दुःख व्यक्त करते हैं कि ऐसा युग आ गया है जब हृदय में चाहे जितना मैल हो, लेकिन बाहरी चमक-दमक की ही पूछ है। जहाँ धर्म और अधर्म एक सा दिखाई देता है और राज की बागडोर राजा के हाथ में नहीं वरन् नौकरों-चाकरों के हाथ में है। जहाँ इतनी अंधेरगद्दी मची है कि ऐसा लगता है मानो राजा विदेश में रहता है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र द्वारा की गई यह आलोचना तत्कालीन साम्राज्यवादी राज्य व्यवस्था के कुप्रशासन की आलोचना है। साम्राज्यवाद पूँजीवाद की ही एक विकसित अवस्था है। इस आलोचना में उनका स्वर यथार्थवादी है और तत्कालीन व्यवस्था के उत्पीड़क रूप को उजागर करती है। इस प्रकार भारतेन्दु एक ओर तत्कालीन राज्य व्यवस्था के जन विरोधी और शोषक-उत्पीड़क ढाँचे के टूटने का दुःख व्यक्त करते हैं वहीं वे ब्राह्मणवादी-सामंतवादी ढाँचे के टूटने का दुःख भी व्यक्त करते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वे इस ब्राह्मणवादी-सामंतवादी ढाँचे को पूरी तरह स्वीकार करते हैं। अगर ऐसा होता तो इसी नाटक के आरंभ में निम्नलिखित पंक्तियाँ न लिखते :

मान्य योग्य नहीं होत कोऊ कोरो पद पाए।

मान्य योग्य नर ते, जे केवल परहित जाए।

यहाँ वे ऊँच-नीच का भेद उसके पद या जन्म से नहीं करते वरन् इस बात से कर रहे हैं कि वही व्यक्ति मान्य (उच्च) है जो दूसरों के हित के लिए जीता हो। इसी तरह वे अपनी रचनाओं में पंडितों के कुकृत्यों की आलोचना भी करते हैं और जाति-पाँति से मुक्त होने की माँग भी करते हैं। लेकिन इन सबके बावजूद यह स्वीकारना होगा कि अंधेर नगरी में भारतेन्दु के वैचारिक परिप्रेक्ष्य में अंतर्विरोध है और इस अंतर्विरोध को नकार कर भारतेन्दु को अनालोचनात्मक रूप में प्रगतिशील घोषित करना कहाँ तक तर्कसंगत है?

2.5 व्यंग्य और विडंबना के रूप में 'अंधेर नगरी'

आपने इससे पहले यह जान लिया है कि अंधेर नगरी प्रहसन होते हुए भी अपनी सोद्देश्यता, अपनी सामाजिक-राजनीतिक चेतना के कारण बहुत तीखा व्यंग्यात्मक नाटक है। आप जानते हैं कि गंभीर व्यंग्य हमेशा सार्थक आलोचना का, गंभीर प्रतिक्रिया का, चुभन का कार्य करता है। वह रचनाकार के अनुभव, उसकी रचना-दृष्टि, समीक्षा-शक्ति का, संवेदनात्मक ईमानदारी का प्रमाण होता है। मूल्यहीनता की व्यंग्य चेतना इस पूरे नाटक का लक्ष्य है। प्रहसन के मुख्य तत्व अतिरंजित शारीरिक क्रियाएं, चरित्र और परिस्थिति की अतिरंजना, पात्रों की विसंगत, ऊटपटांग बेतुकी, असामान्य और विलक्षण क्रियाएं हैं। अंधेर नगरी में आप इस तरह के बेतुकेपन की बहुत संभावनाएं पाएंगे जिससे उसका हास्य-व्यंग्य, कटाक्ष, भर्त्सना, चुनौती, चेतावनी के स्वरों में मिलता चला गया है और ऊपर से हास्य प्रधान लगने वाला नाटक वस्तुतः तीखी व्यंग्यपूर्ण और विडंबनाओं की व्यंजक स्थितियों का नाटक बन जाता है। यह दूसरी बात है कि भारतेन्दु का व्यंग्य बहुत कटु और उतना प्रत्यक्ष नहीं होता जितना बंगला नाटककार माइकेल मधुसूदन दत्त का है। फिर भी, भारतेन्दु के व्यंग्य का सौंदर्य आक्रमकता में नहीं उसकी अनायास प्रवहमान अभिव्यक्ति और रोचकता में है जो हँसाता भी है और तिलमिलाता भी है। इसीलिए एक नयी सामाजिक-राजनीतिक जागरूकता, आत्मसजगता की प्रेरणा और प्रगति में विश्वास का अनुभव होने लगता है। परिवर्तनों के प्रति सकारात्मक दृष्टि ही सर्जनात्मक नाटक और सार्थक व्यंग्य को जन्म देती है। जीवन और साहित्य के बीच की दूरी और द्वंद्व को यह नाटक मिटाता है। आधुनिक रंगकर्मियों ने इसमें अपने देश की बदलती परिस्थितियों, समकालीन मूल्यहीनता और खोखलेपन को देखना आरंभ किया और तब इसमें अन्तर्निहित देशव्यापी ही नहीं विश्वव्यापी विसंगतियों का अनुभव किया जिससे इस लघु नाटक का अर्थ विस्तार होता गया।

आप देख चुके हैं कि इस नाटक के सामान्य से दीखने वाले कथानक में तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था की भ्रष्टाचारिता, सत्ता की मूढ़ता, विवेकहीनता निरीह जनता को सताने और ठगने की प्रवृत्ति का, युग की विकृति और विसंगति का चित्रण मिलता है। वैसे तो **अंधेरी नगरी** का केंद्र बिंदु है - पैसे और धन का बढ़ता महत्व। लेकिन नाटक का मूल स्वर इतना ही नहीं है, मूल स्वर तो धन पर आधारित अमानवीय व्यवस्था और उससे उत्पन्न उत्पीड़क और अराजक स्थितियों का चित्रण है। **अंधेरी नगरी** अंधव्यवस्था का प्रतीक है। चौपट राजा न्याय-दृष्टि के न होने का। उसका न्याय भी अन्धता का प्रमाण है। न्याय की पूरी प्रक्रिया शासन-सत्ता की संवेदनहीनता और मानवीय विडंबना को दिखाता है। साथ ही, आज के मानव समाज में बढ़ती जाती लोभ-वृत्ति पर भी व्यंग्य है क्योंकि वही मनुष्य को अन्ध-व्यवस्था में फंसाती है, जहाँ शोषक-शोषित, अपराधी-निरपराधी में कोई अंतर नहीं। **अंधेरी नगरी** को व्यापक रूपक के तौर पर देखें तो वह समकालीन राज्य व्यवस्थाओं पर व्यंग्य के रूप में भी देखा जा सकता है। 'टके' पर आधारित व्यवस्था आज पहले से कहीं ज्यादा मजबूत हुई है। इसने जहाँ एक ओर नौकरशाही को और ताकतवर बनाया है वहीं आम आदमी की मुश्किलों में इजाफा किया है।

1970 के बाद के दौर में, **अंधेरी नगरी** की ओर साहित्य संसार का ध्यान एक बार फिर गया। यह नाटक जगह-जगह कई रूपों में खेला गया। मंचीय नाटक के रूप में, नुक्कड़ नाटक के रूप में, लोक नाट्य के रूप में। **अंधेरी नगरी** में राज्य व्यवस्था का जो चित्र प्रस्तुत किया गया था, वह आज भी उतना ही सच नजर आ रहा है, जितना भारतेंदु के दौर में आता होगा। अगर हम नाटक में निहित उनकी पुनरुत्थानवादी और नैतिकतावादी दृष्टि पर बल न दें, तो उसमें निहित यथार्थ लगभग उसी रूप में आज भी मौजूद हैं। मनुष्य की पहचान आज पहले के किसी भी समय से ज्यादा पैसे से नापी जाती है। मनुष्य की बौद्धिकता और कौशल का, ईमानदारी और कर्मठता का कोई मूल्य नजर नहीं आता। सत्ता वर्ग अपने हित के लिए धर्म और जाति के नाम पर लोगों में फूट और द्वेष फैलाता है। आम आदमी आज भी टैक्स के बोझ तले दबा जा रहा है और पुलिस के अत्याचार और राजनीतिज्ञों और नौकरशाहों में व्याप्त भ्रष्टाचार से वह त्रस्त है :

चूरन साहब लोग जो खाता

सारा हिन्द हज़म कर जाता।

ये पंक्तियाँ ब्रिटिश शासन तक ही सीमित नहीं है - यह आज भी उतनी ही यथार्थ है। न्याय व्यवस्था का जो चित्र **अंधेरी नगरी** में व्यक्त हुआ है, आज भी वैसे ही आम आदमी की कोई सुनवाई नहीं है। न्याय के नाम पर जो अन्याय होता है, उसके कदमों तले गरीब और असमर्थ पिस रहा है। उसकी फरियाद कोई सुनने वाला भी नहीं है। कानून के दाव-पेंच के आगे वह निरुपाय है। **अंधेरी नगरी** आज की न्याय व्यवस्था के आडंबर, आतंक और न्याय प्रक्रिया की जटिलता और अंधेपन को भी उजागर करता है। अंत में, फांसी का दृश्य आज की व्यवस्था की क्रूरता, अविवेकशीलता और अंधेपन का भयानक मजाक है। इस तरह **अंधेरी नगरी** में भारतेंदु विदूष स्थितियों पर विदूषक की तरह हंसते-हंसाते हैं। पूरा नाटक इस माने में आपको समकालीन विसंगतियों का, विडंबनाओं का नाटक लगेगा। नाटक का अंत इस बात का सूचक भी है कि यह व्यवस्था अपने ही बनाए दुष्चक्र में समाप्त हो जाएगी। लेकिन नाटक के अंत को लोकतांत्रिक मूल्यों की जीत के रूप में देखना औचित्यपूर्ण नहीं लगता। महंत जिस बौद्धिक युक्ति से राजा को फांसी लगाने के लिए प्रेरित करता है, वह जनता की सामूहिक शक्ति का प्रतीक नहीं है। इससे केवल इतना ही अर्थ निकलता है कि शासक वर्ग अपने ही बनाए जाल में फंस कर समाप्त हो सकता है। इस अंत का सकारात्मक पहलू यह है कि यह शोषक और उत्पीड़क व्यवस्था की समाप्ति के प्रति आशा का भाव जगाता है।

2.6 सारांश

पाठ्यक्रम की इस दूसरी इकाई का अध्ययन करने के बाद आपको भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटक **अंधेरी नगरी** में व्यक्त सामाजिक यथार्थ को समझने में मदद मिली होगी। इकाई में हमने बताया था कि 1857 और 1885 के बीच की अवधि से भारतेंदु के लेखन का गहरा संबंध है। 1857 का पहला स्वतंत्रता संग्राम नाकामयाब रहा था। उसके बाद के लगभग तीन दशकों में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के शासन के अंतर्गत देश की जो परिस्थितियाँ थीं, उसी को भारतेंदु ने **अंधेरी नगरी** का रूपक देकर व्यक्त किया है। तत्कालीन व्यवस्था की जिस केंद्रीय विशेषता को उन्होंने उजागर किया है, वह है धन की सत्ता। साम्राज्यवादी व्यवस्था की क्रूरता और अमानुषिकता को उन्होंने नौकरशाही और न्याय

व्यवस्था के असली चेहरे को अनावृत करते हुए व्यक्त किया है। उनकी आलोचना राजनीतिक आलोचना है, लेकिन इस आलोचना पर मध्यवर्गीय नैतिकता और पुनरुत्थानवादी दृष्टि का भी असर है, इसे आपने इकाई में की गई नाटक की व्याख्या से समझ लिया होगा।

सामाजिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में 'अंधेर नगरी'

अंधेर नगरी समसामयिक संदर्भों का जीवन्त नाटक है। इसका संबंध ब्रिटिश शासक वर्ग से ही नहीं है। नाटक में व्यक्त यथार्थ और उसमें निहित विडंबना वर्तमान जनविरोधी पूंजी आश्रित सत्ताओं की भी है। विश्व में निरंतर बढ़ती जाती मानव विरोधी प्रवृत्तियों और मूल्यों के संघर्ष से, सामाजिक और राजनीतिक चेतना से इसका संबंध नये-नये अर्थ और व्यंजनाएँ विकसित करता गया। अंधेर नगरी के कथानक की जानकारी देकर आपको यह स्पष्ट बताया जा चुका है कि इस नाटक में व्यक्त यथार्थ सीमित नहीं है, वह व्यापक चेतना और गतिशील यथार्थ का नाटक है। भारतेन्दु के इस नाटक में उनकी राजनीतिक-सामाजिक दृष्टि का भी इकाई में विश्लेषण किया गया है। अंधेर नगरी में उनकी स्पष्ट राजनीतिक दृष्टि व्यक्त हुई है। लेकिन इस राजनीतिक दृष्टि की सीमा यह है कि यह लोकतांत्रिक मूल्यों की ओर संकेत तो करती है, लेकिन जनता की शक्ति और अधिकारों को स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं कर पाती। हालांकि, इससे नाटक का महत्व और उसकी प्रासंगिकता कम नहीं हो जाती।

इकाई में आपको यह भी बताया गया है कि अपने इन्हीं गंभीर और सजग स्वरो के कारण अंधेर नगरी व्यंग्य और विडंबना का संवेदनापूर्ण नाटक है। उसका व्यंग्य तीखा है पर नकारात्मक या आक्रामक नहीं। अंधेर नगरी में राज्यव्यवस्था और उसके दो महत्वपूर्ण स्तंभों नौकरशाही और न्याय व्यवस्था को व्यंग्य का निशाना बनाया गया है। चौपट राजा इस अंधेर नगरी के रूपक के केंद्र में है और उसकी बुद्धिहीनता किसी व्यक्ति की नहीं बल्कि संपूर्ण व्यवस्था की बुद्धिहीनता की प्रतीक है। यह बुद्धिहीनता ही वह अंधापन है, जिसके कारण निर्दोष को सजा दी जाती है और अपराधी खुले घूमते हैं। यही अंधापन नौकरशाही को अनियंत्रित और क्रूर बनाता है और न्याय व्यवस्था को अन्यायकारी और अमानुषिक। अंधेर नगरी के इन पक्षों के अध्ययन से आप नाटक के महत्व और उसकी प्रासंगिकता से परिचित होंगे, ऐसी आशा है।

अभ्यास

1. भारतेन्दु ने अंधेर नगरी के माध्यम से तत्कालीन राज्यव्यवस्था के प्रति किस तरह का दृष्टिकोण व्यक्त किया है?
2. अंधेर नगरी में व्यक्त व्यंग्य और विडंबना की व्याख्या कीजिए और यह भी बताइए कि यह नाटक किस अर्थ में आज भी प्रासंगिक है?
3. भारतेन्दु युगीन राजनीतिक-सामाजिक यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में अंधेर नगरी नाटक का महत्व प्रतिपादित कीजिए।

इकाई 3 'अंधेर नगरी' का नाट्यशिल्प

इकाई की रूपरेखा

- 3.0 उद्देश्य
- 3.1 प्रस्तावना
- 3.2 अंधेर नगरी : एक प्रहसन के रूप में
- 3.3 अंधेर नगरी के नाट्यशिल्प की विशेषताएँ
- 3.4 अंधेर नगरी का रूप-विधान
- 3.5 भाषिक प्रयोग
- 3.6 रंगमंचीय प्रस्तुति
- 3.7 सारांश

3.0 उद्देश्य

पिछली इकाई में आपने भारतेन्दु-युगीय समय, अंधेर नगरी में व्यक्त यथार्थ, अंधेर नगरी में व्यक्त राजनीतिक दृष्टि, व्यंग्य और विडम्बना के रूप में अंधेर नगरी के विषय में जाना। प्रस्तुत इकाई में आप अंधेर नगरी के नाट्य-शिल्प का अध्ययन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप अंधेर नगरी के नाट्य-शिल्प की विशेषताओं का विश्लेषण कर सकेंगे, अंधेर नगरी नाटक के रूप-विधान का वर्णन कर सकेंगे, अंधेर नगरी के भाषिक प्रयोग की व्याख्या कर सकेंगे, और रंगमंच पर अंधेर नगरी की प्रस्तुतियों और अंधेर नगरी के रंगमंचीय पक्ष के बारे में जान सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

पाठ्यक्रम-04 से संबंधित खण्ड-1 की यह तीसरी इकाई है। इस खंड की इस अंतिम इकाई में आपके यह जानना ज़रूरी है कि इस लघु कलेवर के नाटक अंधेर नगरी के नाट्यशिल्प की क्या विशेषताएँ हैं जो इसे एक-साथ इतने सूक्ष्म और व्यापक संदर्भों का सार्वभौमिक नाटक बनाती हैं। कोई भी नाटक अपने कथानक मात्र से महत्वपूर्ण नहीं होता, बल्कि उसकी संश्लिष्टता, समग्रता उसे अमर और सर्जनात्मक बनाती है जिसके लिए नाटककार की संवेदना, नाटक के दृश्य-काव्यत्व और सामूहिकता से उसका प्रत्यक्ष सरोकार और नाट्य-शिल्प पर उसका अधिकार आवश्यक है। इस इकाई को पढ़कर आप जान सकेंगे कि अंधेर नगरी नाटक की संरचना में किस तरह शास्त्रीय परम्परा, लोक परम्पराओं और अपनी युगीन परम्पराओं को तो आत्मसात किया ही गया है, यह नाटक बदलते युग के अनुसार हिंदी नाटक और रंगमंच के लिए एक मौलिक, लचीले, जीवन्त और सार्थक नाट्यशिल्प का उदाहरण प्रस्तुत करता है। आप यह भी समझ सकेंगे कि अंधेर नगरी की भाषा की बनावट और उसकी गठन कैसी है। भारतेन्दु ने उसकी भाषा में शब्दों, वाक्यों, मुहावरों के साथ-साथ लय, टोन, आरोह-अवरोह, ध्वनियों एवं क्रियाओं के कौन से प्रयोग किए हैं। और अंत में आप यह जानेंगे कि अंधेर नगरी में रंगमंचीय दृष्टि से किन परंपराओं को अपनाया गया है। उसकी आंतरिक संरचना में रंगमंच किस प्रकार घुला-मिला है और रंगमंचीय प्रस्तुति के रूप में अंधेर नगरी का सौंदर्य क्या है जो उसके शिल्प को भी महत्वपूर्ण बनाता है। इसके अतिरिक्त, आप अंधेर नगरी की रंगमंच पर होने वाली प्रस्तुतियों और रंगमंचीय प्रयोगों के बारे में भी जान सकेंगे। इन सभी पक्षों को समझने पर ही आप अंधेर नगरी की सांकेतिकता और उसकी समकालीन प्रासंगिकता को, तथा उसके शिल्पगत सर्जनात्मक वैशिष्ट्य को समझ सकेंगे।

3.2 अंधेर नगरी : एक प्रहसन के रूप में

अंधेर नगरी एक प्रहसन है पूरा नाटक नहीं। लेकिन इसे भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने छह अंकों में विभाजित किया है। ये सभी अंक अलग-अलग स्थानों पर घटित होते हैं। छोटा नाटक होते हुए भी इसमें पात्रों की संख्या बहुत ज्यादा है। गद्य में संवादों के साथ-साथ पद्य के अंश भी काफी ज्यादा हैं। पहले अंक की शुरुआत ही गीत से होती है। पूरे प्रहसन को रंगमंच पर भी खेला जा सकता है, खुले मंच पर भी

और नुक्कड़ नाटक शैली में भी। वस्तुतः इन तीनों रूपों में यह नाटक खेला भी गया है। नाटक के इन सभी पक्षों के बारे में हम इस इकाई में विचार करेंगे। आइए, सबसे पहले यह देखें कि नाट्य शिल्प की दृष्टि से अंधेरी नगरी की क्या-क्या विशेषताएं हैं।

प्रहसन के रूप में अंधेर नगरी

नाटक नामक पुस्तक में भारतेन्दु ने प्रहसन की परिभाषा करते हुए लिखा था कि 'हास्य रस का मुख्य खेल। नायक राजा वा धनी वा ब्राह्मण वा धूर्त कोई हो। इसमें अनेक पात्रों का समावेश होता है। यद्यपि प्राचीन रीति से इसमें एक ही अंक होना चाहिए किन्तु अब अनेक दृश्य दिये बिना नहीं लिखे जाते।' इस परिभाषा को प्रस्तुत करने के बाद उन्होंने हास्यार्णव, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति और अंधेरी नगरी की गणना प्रहसन के रूप में की है। तात्पर्य यह है कि भारतेन्दु अंधेर नगरी को प्रहसन मानते हैं, लेकिन उसकी शास्त्रीय संरचना में पर्याप्त ढील भी दे देते हैं। उन्हीं के अनुसार, प्रहसन हास्य प्रधान होता है। इस दृष्टि से अंधेर नगरी भी हास्य प्रधान है। लेकिन सिर्फ हास्य प्रधान नहीं वरन् इसमें व्यंग्य का जबर्दस्त पुट है। इसलिए चाहें तो हम यह भी कह सकते हैं कि अंधेरी नगरी हास्य-व्यंग्य प्रधान है, न कि सिर्फ हास्य प्रधान।

भारतेन्दु प्रहसन की दूसरी विशेषता यह बताते हैं कि इसका नायक राजा, धनी, ब्राह्मण या धूर्त कोई भी हो सकता है। इस दृष्टि से विचार करें तो अंधेर नगरी के बारे में साफतौर पर कुछ भी कहना कठिन है। इसमें राजा भी है, ब्राह्मण भी और धूर्त पात्र भी हैं, लेकिन अंधेरी का नगरी नायक किसे माना जाए यह तय करना कठिन है। प्रहसन में महत्व के हिसाब से राजा, मंत्री, गोबरधनदास और महंत का उल्लेख किया जा सकता है, लेकिन इनमें से क्या किसी को भी नायक स्वीकार किया जा सकता है। सबसे पहले राजा पर विचार करें। नाटक का शीर्षक अंधेर नगरी है, लेकिन इसका उपशीर्षक 'अंधेरी नगरी: चौपट राजा, टके सेर भाजी, टके सेर खाजा' है। यानी यह नाटक अंधेर नगरी के चौपट राजा से संबंधित है। यहाँ यह जानना महत्वपूर्ण है कि 'अंधेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा' नामक प्रसिद्ध लोकोक्ति को भारतेन्दु ने प्रहसन का रूप दिया। यानी एक ऐसी नगरी का रूपक उन्होंने प्रहसन में निर्मित किया जिसके राज्य में किसी तरह की व्यवस्था न हो और जहाँ का राजा चौपट हो। चौपट का तात्पर्य है बुद्धिविहीन, जो कुछ भी सही ढंग से करने की क्षमता नहीं रखता। अंधेर नगरी में भी एक राजा है जो इस लोकोक्ति के अनुरूप ही बुद्धिविहीन है। लेकिन क्या ऐसा बुद्धिविहीन राजा नाटक का नायक माना जा सकता है? राजा का नाटक में पहली बार उल्लेख दूसरे अंक में आता है। बाजार में घूमते हुए गोबरधनदास को हर चीज टके सेर के भाव से बिकती दिखाई देती है तो वह हलवाई से मिठाई खरीदते हुए पूछता है कि 'इस नगरी का नाम क्या है?' और यहाँ के 'राजा का क्या नाम है?' जवाब में हलवाई बताता है नगरी का नाम 'अंधेर नगरी' और राजा का नाम चौपट राजा है। हलवाई के बताए इस परिचय से ही साफ जाहिर हो जाता है कि नगर और राजा दोनों को नाटककार ने प्रतीक के रूप में ही लिया है। राजा का एक पात्र के रूप में पदार्पण चौथे अंक में होता है। राज सभा में राजा मौजूद है और साथ में राजा के मंत्री और दूसरे नौकर भी हैं। एक फर्यादी को पकड़कर लाया जाता है, वह अपनी फरियाद सुनाता है। इस अंक में मुकदमे की कार्रवाई चलती है और राजा अंत में कोतवाल को फाँसी देने का फैसला देता है। इसके बाद फिर राजा का आगमन छठे अंक में होता है जिसमें सारी कार्रवाई श्मशान में घटित होती है। यानी कि कुल छह अंकों में से दो अंकों में राजा आता है और उनमें भी सिर्फ एक अंक में राजा पूरे समय सक्रिय रूप से मंच पर गतिविधि करता हुआ नज़र आता है। आखरी अंक में सिर्फ राजा के द्वारा केवल तीन संवाद बोलवाए गए हैं। इस प्रकार राजा पूरे प्रहसन में छह अंक में से केवल एक अंक में ही उपस्थित होकर क्या प्रहसन का नायक कहा जा सकता है? यह जरूर है कि नाटक के मूल कथ्य के साथ राजा का गहरा संबंध है क्योंकि अंधेर नगरी का वह राजा है और उसकी जनविरोधी और अविवेकपूर्ण प्रवृत्ति से ही कथ्य में वह अर्थ व्यक्त हुआ है जो लेखक का ध्येय है। राजा का चरित्र प्रहसन में जिस तरह चित्रित किया गया है, वह नायकों के किसी वर्गीकरण के अनुसार नहीं है। इसके विपरीत उसका चरित्र विदुषक की तरह है जबकि संस्कृत नाटकों में विदुषक नायक का सहायक पात्र होता था और जिसका मकसद नायक का मनबहलाव करना होता था।

जहाँ तक मंत्री का सवाल है, वह राजा के साथ-साथ ही नाटक में उपस्थित होता है। वह स्वतंत्र रूप से कुछ करता नज़र नहीं आता, बल्कि राजा के मुख्य सहायक के रूप में ही दिखाई देता है। लेकिन अपनी भूमिका में ही मंत्री राजा से अधिक चतुर और चालाक नज़र आता है और दर्शकों को यह स्पष्ट

हो जाता है कि मंत्री की बुद्धि ही राजा के निर्णयों को निर्धारित कर रही है। आखिरी अंक में जब फाँसी चढ़ने की होड़ लगती है तब मंत्री भी फाँसी चढ़ने के लिए तैयार हो जाता है। यह कृत्य उसके चालाक चरित्र से मेल नहीं खाता। इसके बावजूद मंत्री नाटक के केंद्रीय चरित्र के रूप में नज़र नहीं आता।

प्रहसन के अन्य दो प्रमुख चरित्र हैं गोबरधनदास और महंत। गोबरधनदास महंत का शिष्य है। महंत और उसके दो शिष्यों नारायणदास और गोबरधनदास के साथ ही नाटक की कथा आरंभ होती है। पहले अंक में महंत अपने इन दोनों शिष्यों के साथ शहर के बाहरी हिस्से में पहुँचता है। महंत उन्हें उस नगर में भिक्षा मांगने के लिए भेजता है। दूसरे अंक में बाज़ार का दृश्य है, जहाँ गोबरधनदास आश्चर्य चकित सा बाज़ार को देख रहा है और अंत में उसकी हलवाई के साथ बातचीत होती है, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। तीसरे अंक में फिर महंत और गोबरधनदास का वार्तालाप है। गोबरधनदास महंत को नगर के बारे में बताता है और उनसे प्रार्थना करता है कि वे इसी शहर में स्थाई निवास बना ले। लेकिन महंत जल्द से जल्द शहर से दूर चले जाने की बात कहता है। गोबरधनदास नहीं जाता और वहीं रह जाता है। पाँचवें अंक में गोबरधनदास को राजा के सिपाही पकड़ ले जाते हैं और छठे में उसे फाँसी पर चढ़ाने की तैयारी होने लगती है। इस प्रकार चौथे अंक को छोड़कर गोबरधनदास नाटक के आरंभ से लेकर अंत तक मौजूद रहता है। कथा का प्रवाह भी उसी के साथ-साथ विकसित होता है, और कथा की परिणति भी उसी के साथ होती है। इसलिए इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि गोबरधनदास **अंधेर नगरी** का केंद्रीय चरित्र है। लेकिन इसी वजह से वह **अंधेर नगरी** का नायक बनने की योग्यता हासिल नहीं कर सकता। वस्तुतः उसमें नायक जैसा कुछ भी नहीं है परिस्थितियों से संचालित वह अपनी भावनाओं और इच्छाओं के वशीभूत रहता है और उसके व्यक्तित्व में स्वतंत्र रूप से सोचने और करने जैसा कोई गुण नहीं दिखाई देता। महंत का व्यक्तित्व अवश्य बुद्धिमान और चालाक नज़र आता है और अंत में गोबरधनदास को मुक्ति भी महंत की चतुराई से ही मिलती है। लेकिन पूरे प्रहसन में उसकी भूमिका अत्यंत सीमित रहती है। उपर्युक्त विवेचन से यह साफ हो जाता है कि **अंधेर नगरी** का कोई पात्र उसका नायक नहीं कहा जा सकता। यह वस्तुतः ऐसा रूपक है जिसमें प्रत्येक पात्र कुछ विशेष प्रवृत्तियों के प्रतीक के रूप में आते हैं और उनको इसी रूप में देखा जाना चाहिए।

'प्रहसन' की परिभाषा में तीसरी बात भारतेन्दु ने यह लिखी थी कि इसमें 'अनेक पात्रों का समावेश हो सकता है।' इस दृष्टि से विचार करने पर हमें इसमें अनेक पात्रों का समावेश अत्यंत सोद्देश्यपूर्ण प्रतीत होता है। व्यक्ति के तौर पर भले ही उनमें चारित्रिक विशिष्टता का अभाव झलकता हो, लेकिन प्रहसन की पूरी संरचना में सभी पात्र किसी न किसी रूप में मदद करते हैं। वस्तुतः यह चरित्र प्रधान नाटक नहीं है। लेकिन इनमें पात्रों की सृष्टि काफी सोच-विचार कर की गई है। ऊपर हमने जिन चार पात्रों का उल्लेख किया है, उनके अलावा भी जो पात्र प्रहसन में आए हैं, वे नाटक की कथावस्तु के अर्थ को या तो विस्तार देते हैं या नया आयाम देते हैं। उदाहरण के लिए दूसरे अंक में बाज़ार के दृश्य में चूरन वाले, नारंगी वाले, हलवाई, कुंजड़िन, मुगल, पाचक वाला, मछली वाली, ब्राह्मण, बनिया आदि विभिन्न पात्र मंच पर आकर सिर्फ अपने संवाद बोलते हैं और प्रायः सभी के संवाद पद्य में हैं लेकिन इन संवादों में भारतेन्दु ने तीखे व्यंग्य का जो पुट दिया है, वह न तो इन पात्रों को सिर्फ बाज़ार में बैठे विक्रेता रहने देता है और न ही वे सिर्फ चीज़ें बेचते नजर आते हैं। मसलन, चूरन बेचने वाला घासीराम चूरन बेचने की गुहार लगाते-लगाते अंत में कहता है: 'चना हकिम सब जो खाते / सब पर दूना टिकस लगाते।' या इसी तरह कुंजड़िन कहती है, 'ले हिन्दुस्तान का मेवा फूट और बैरा' और दूसरे पात्र के संवादों में भी इसी तरह दो-चार पंक्तियों के माध्यम से तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था पर व्यंग्य किया गया है। व्यंग्य की इसी शक्ति का उपयोग पात्रों को प्रभावशाली रूप में पेश करने के लिए निर्देशक कर सकता है।

भारतेन्दु ने प्रहसन को परिभाषित करते हुए एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह कही है कि 'यद्यपि प्राचीन रीति से इसमें एक ही अंक होना चाहिए किन्तु अब अनेक दृश्य दिए बिना नहीं लिखे जाते।' **अंधेर नगरी** भी एक अंक का प्रहसन नहीं है। इसमें कुल छह अंक हैं लेकिन प्रत्येक अंक में दृश्यों का विभाजन नहीं है। उपर्युक्त कथन में भी अंक और दृश्य के बीच के भेद को महत्व नहीं दिया गया है। प्रायः अंकों का विभाजन कथ्य में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार होता है। इस दृष्टि से विचार करें तो इस प्रहसन के सभी छह अंकों में कथा अलग-अलग स्थानों पर घटित होती है। काल की दृष्टि से इनमें बहुत अधिक अंतराल नहीं है।

कथावस्तु के विकास को समझने के दो तरीके हो सकते हैं। संस्कृत नाट्य परंपरा के अनुसार कथावस्तु में कार्य की पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं : आरंभ, प्रयत्न, प्राप्तयाशा, नियताप्ति और फलागम। अंधेर नगरी की कथावस्तु की योजना इस दृष्टि से नहीं की गई है। गोबरधनदास को इस प्रहसन का केंद्रीय चरित्र मानें तो उसका अंधेर नगरी में रहने का निश्चय किसी महान् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए नहीं है। वह इस लालच में वहां रुकने का निर्णय करता है कि उसे अच्छी भीख मिलेगी और हर चीज टके सेर होने की वजह से उसे तरह-तरह के पकवान खाने को मिलेंगे। इस तरह उसका जीवन आनंद से गुजरेगा। जब राजा के सिपाही उसे पकड़ के ले जाते हैं तब उसे ऐसा कुछ घटित होने की बिल्कुल आशंका नहीं होती। इस प्रकार वह अप्रत्याशित रूप से संकट में फँस जाता है अगर हम पश्चिमी नाट्य परंपरा की दृष्टि से विचार करें तो यह प्रहसन उसके नियमों का पूरी तरह अनुकरण नहीं करता लेकिन उसके अपेक्षाकृत ज्यादा नज़दीक है।

इस प्रहसन की कथा को आरंभ, विकास और अंत के रूप में विभाजित किया जा सकता है। अंधेर नगरी के पहले तीन अंक वस्तुतः कथा के आरंभ के रूप में देखे जा सकते हैं। अंक चार में कथा का विकास होता है। पाँच में कथा चरम बिंदु पर पहुँचती है और छह में कथा की परिणति होती है। इस दृष्टि से अंधेर नगरी की कथावस्तु का संबंध गोबरधनदास नामक एक साधू से है, जो अपने गुरु की सलाह के विरुद्ध अंधेर नगरी में रुकने का फैसला करता है और इस तरह दर्शकों के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि गोबरधनदास के रुकने का क्या परिणाम होगा? महंत की चेतावनी का क्या मतलब है? ऐसे नगर में जहां हर चीज टके सेर बिकती हो, वह किस तरह का नगर है? हमें इन अंकों का विभाजन उस रूप में भी नहीं दिखाई देता जैसा अंकों का होना चाहिए। पहले अंक में महंत और दोनों शिष्य अंधेर नगरी के बाहरी हिस्से में पहुँचते हैं और महंत उन्हें शहर में भिक्षाटन के लिए भेजता है। दूसरे अंक में बाजार का दृश्य है। इस अंक का बड़ा हिस्सा पहले अंक से काफी स्वतंत्र है। विचार किया जाए तो इस अंक में हमें शिष्य भीख मांगते नहीं दिखाए गए हैं। भीख वे मांग चुके हैं इसकी सांकेतिक सूचना हमें मिलती है। गोबरधनदास बाजार का पूरा दृश्य देखने के बाद हलवाई से मिठाई खरीदता है। अंक के अंतिम संवाद से मालूम पड़ता है कि भिक्षा मांगने का काम पहले ही किया जा चुका है। 'बच्चा भिक्षा माँगकर सात पैसे लाया हूँ, साढ़े तीन सेर मिठाई दे दे, गुरु-चेले सब आनंदपूर्वक इतने में छक जायेंगे' कहानी में पहला महत्वपूर्ण मोड़ आता है जब गोबरधनदास तीसरे अंक में आकर महंत को सारा घटनाक्रम बताता है। उसकी बात सुनकर महंत की प्रतिक्रिया होती है 'ऐसी नगरी में रहना उचित नहीं है जहां टके सेर भाजी और टके ही सेर खाजा हो।' लेकिन गोबरधनदास के गले महंत की बात नहीं उतरती। वह कहता है : 'गुरुजी, ऐसा तो संसार-भर में कोई देस ही नहीं है। दो पैसा पास रहने ही से मजे में पेट भरता है। मैं तो इस नगरी को छोड़कर नहीं जाऊँगा। और जगह दिन भर माँगो तो भी पेट नहीं भरता। बरंच बाजे-बाजे दिन उपास करना पड़ता है। सो मैं तो यही रहूँगा।' जब महंत के समझाने के बावजूद गोबरधनदास नहीं मानता तो महंत दूसरे शिष्य के साथ यह कहते हुए चला जाता है कि '.....मैं तो जाता हूँ। पर इतना कहे जाता हूँ कि कभी संकट पड़े तो हमारा स्मरण करना।' महंत का यह कथन कई संकेत छोड़ जाता है। गोबरधनदास जिस लालच के वशीभूत होकर रुका है, वह उसे संकट में अवश्य डालेगा और उस संकट से महंत ही उसे उभारेगा, इसका पूर्व संकेत हमें महंत के उक्त कथन से मिल जाता है। लेकिन दर्शकों के मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि गोबरधनदास क्या सचमुच संकट में पड़ेगा? संकट किस कारण से आएगा और महंत उसे संकट से उबार पाएगा या नहीं? उबारेगा भी तो कैसे?

लेकिन प्रहसन के चौथे अंक में कथा से गोबरधनदास गायब हो जाता है। इसमें राज सभा का दृश्य है। विलासी और मूर्ख किस्म के राजा से हमारा साक्षात्कार होता है। जो नशे में धुत है और सेवक की आवाज़ से डर कर चौंक उठता है। कुछ ही संवादों के बाद राजा के सामने एक फरियादी लाया जाता है जो राजा से न्याय मांग रहा है। कल्लू बनिया के घर की दीवार ढहने से फरियादी की बकरी दबकर मर गई है, वह उसी का न्याय मांग रहा है। स्पष्ट ही मामला इतना संगीन नहीं है कि उसे राजा के सामने प्रस्तुत किया जाए, लेकिन विडंबना यह भी है कि राजा के सम्मुख इसी तरह के मामले पेश किए जाते हैं। राजा कल्लू बनिये की दीवार को पेश करने का आदेश देता है। दीवार पेश नहीं हो सकती, इसलिए कल्लू बनिया को पेश किया जाता है। हर व्यक्ति अपना कसूर मानने की बजाए किसी दूसरे को कसूरवार ठहराता है और अंक के अंत में राजा मंत्री के सुझाव के अनुसार शहर कोतवाल को फांसी की सजा सुना देता है। इस अंक की कथा का गोबरधनदास से कोई संबंध प्रत्यक्ष रूप में दिखाई नहीं देता। लेकिन कोतवाल को फांसी दिए जाने के साथ इस अंक की समाप्ति से दर्शकों को यह

आभास होने लगता है कि मामला गंभीर हो सकता है। दीवार गिरने से कोतवाल को फाँसी देने वाले राजा के राज्य में कुछ भी घटित हो सकता है। चौथे अंक की समाप्ति कहानी को चरमोत्कर्ष की ओर ले जाती है।

चौथे और पाँचवें अंक के बीच कुछ और घटनाएँ घटती हैं लेकिन उसको नाटक की कथावस्तु का हिस्सा नहीं बनाया गया है। इसकी सूचना हमें पाँचवें अंक के संवादों से मिलती है। पाँचवें अंक में राजा के सिपाही गोबरधनदास को पकड़ के ले जाते हैं। गोबरधनदास जब सिपाहियों से पूछता है कि उसे क्यों ले लाया जा रहा है तो पहला सिपाही जवाब देता है और उसके जवाब से ही मालूम पड़ता है कि उसे फाँसी के लिए ले जाया जा रहा है क्योंकि 'फाँसी का फन्दा बड़ा' है और 'कोतवाल साहब दुबले हैं।' अब न्याय का तकाजा है कि 'बकरी मारने के अपराध में किसी न किसी को सजा होनी जरूरी है, नहीं तो न्याय न होगा।' गोबरधनदास को अब समझ आता है कि क्यों गुरुजी ने इस नगर में रुकने से मना किया था। वह अपने प्राण बचाने के लिए गुरुजी को पुकार उठता है। इस प्रकार पाँचवाँ अंक चरमोत्कर्ष की ही स्थिति में समाप्त हो जाता है। छठा और आखरी अंक में नाटक का सुखद अंत होता है। गुरुजी की चतुराई से सिर्फ गोबरधनदास ही नहीं बचता स्वयं राजा स्वर्ग की लालसा में फाँसी पर चढ़ जाता है। इस प्रकार दर्शकों की इस जिज्ञासा का समाहार हो जाता है कि गोबरधनदास का अंधेर नगरी में रहने का फैसला क्यों गलत था। और इसी क्रम में उनके सामने अंधेर नगरी का वास्तविक अर्थ भी उद्घाटित हो जाता है।

3.3 'अंधेर नगरी' के नाट्यशिल्प की विशेषताएँ

अंधेर नगरी का नाट्यशिल्प अत्यंत लचीला, सरल, आकर्षक और गत्यात्मक है। भारतेन्दु ने इसमें किसी एक प्रकार के परम्परागत अथवा आधुनिक शिल्प का प्रयोग नहीं किया है बल्कि नाटक को रूढ़ियों से, एक प्रचलित ढाँचे से मुक्त किया है। यह भारतेन्दु की निरंतर नवीन ग्रहण-वृत्ति और रचना-वृत्ति को स्पष्ट करता है। अंधेर नगरी की पूरा कथावस्तु पाँच अंकों में विभाजित है और इन अंकों में कोई दृश्य विधान नहीं है। इस नाटक में भारतेन्दु की विशेषता उन अंकों या दृश्यों की कल्पना, उनके संयोजन और उनकी नाटकीयता में है। आप जानते हैं कि प्रायः श्रेष्ठ नाटककार ऐसे नाटकीय व्यंग्य को लेता है जिस पर पूरे नाटक का ढाँचा खड़ा होता है। अंधेर नगरी में भी गहरी व्यंग्यमूलक नाटकीय स्थिति इस प्रश्न से जुड़ती है कि दीवार किसके कारण गिरी? क्या वह अपराध सिद्ध हुआ? क्या न्याय मिला? क्या अपराधी बस खोजा जाता रहा? नाटकीय स्थिति की विशिष्टता और व्यंग्यात्मकता नाटक को आद्यंत चुस्त और लयात्मक सौंदर्य से युक्त बनाए रखती है। इसका लीचला शिल्प इसे यथार्थपरक भी बनाता है और शैलीबद्ध भी। हमेशा नए आस्वाद की संभावनाओं का यह सदाबहार नाटक कहा जा सकता है।

अंधेर नगरी के कथानक की बुनावट में खुलापन और ताज़गी है। बाज़ार दृश्य और दरबार दृश्य इसके अमूल्य नाटकीय दृश्य (अंक) हैं। सत्ता की अंध-व्यवस्था, विवेकहीनता, मूल्यहीनता का परिचय इन दो दृश्यों से मिलता है। बाज़ार का दृश्य पूरे देश के स्तर पर, सस्तेपन, विकृति, आडम्बर, अमानवीयता, शोषण और संवेदनहीनता को व्यक्त करता है। चना ज़ोर गरम बेचने वाले घासीराम के शब्दों में 'चना हाकिम सब जो खाते। सब पर दूना टिकस लगाते।' कुंजड़िन सब्जी बेचते-बेचते अंत में जब यह कह देती है कि 'ले हिंदुस्तान का मेवा-फूट और बैर' तो सारा सब्जी बाज़ार व्यंग्यात्मक अर्थ की व्यापकता में बदल जाता है। पाचक वाले की पंक्तियाँ, महाजन, एडीटर, बनिये, नाटक वाले, पुलिस सब पर प्रहार करती हैं। जो केवल ब्रिटिश शासक तक ही सीमित नहीं है और इन सबके बीच में भारतेन्दु जात वाले ब्राह्मण को टके में जात बेचते दिखा देते हैं तो सारी मूल्यहीनता और संवेदनशून्य स्थिति साकार हो जाती है। चौथा अंक राजनीतिक कार्यरवाइयों के खोखलेपन, न्याय-प्रक्रिया के अमानवीय रूप और आम आदमी की पीड़ा में उलझी स्थितियों को दिखाता है। इसमें गति, क्रियाओं, लयों की अनंत संभावनाएँ हैं। शिल्प का यह लचीलापन निर्देशकों को आकृष्ट करता रहा है। अंधेर नगरी जैसे नाटक में पात्रों के चरित्र-चित्रण की अलग से कोई आवश्यकता नहीं होती। इसमें यद्यपि कई पात्र हैं लेकिन मुख्यतः महन्त, गोबरधनदास, मंत्री और राजा - ये चार विशेष पात्र हैं क्योंकि यही कथानक का आरंभ, विकास और अंत करते हैं - यही सत्ता-लोलुपता, लोभवृत्ति और नीति-उपदेश के प्रतीक हो जाते हैं। इन्हीं से नाटक की कथा और उसका लक्ष्य सम्प्रेषित हो जाता है। नाटकीय व्यापारों के चयन और संयोजन की कुशलता की दृष्टि से अंधेर नगरी विशिष्ट रचना है, पात्र उसी के अनिवार्य अंग हैं।

अंधेर नगरी के नाट्य-शिल्प की विशेषता उसमें अंतर्निहित लोकधर्मी चेतना है। उसका खुलापन, गायन, नृत्य, काव्य, संवाद-उच्चारण, भाषा, अभिनय-शैली, गति-संचार - सब लोक नाटकों जैसा है। चौथे अंक/दृश्य को आप पूर्णतः स्वांग के रूप में देख सकते हैं। संगीत, काव्य धुनों के प्रयोग में रचना के आवेग और उत्तेजना में आप इसे नौटंकी जैसा पाएंगे। नाटक के संघटन में लचीलापन इतना है कि पात्रों के प्रवेश-प्रस्थान नाटककार की तरह नहीं, निर्देशक अपनी कल्पनानुसार कर लेता है। जन-समूह की चेतना और रुचि संस्कार का प्रभाव नाटक में है। कार्य की जिस त्वरित गति को, बात कहने की सर्वथा मौलिक निजी शैली को भारतेंदु ने पकड़ा है, वही अंधेर नगरी को कालजयी बनाता है। 'नाटक देखहु सुख पायी' यह अवधारणा, दर्शक की उपस्थिति का अहसास अंधेर नगरी के शिल्प को न भारी भरकम बनाता है, न अतिनाटकीय और न ही अतिरंजनापूर्ण स्थितियों का घटना-प्रधान नाटक।

यह भारतेंदु के कथा-विन्यास, संयोजन और संरचना का ही वैशिष्ट्य है कि इतनी संक्षिप्त कथा और प्रसंगों को लेकर नाटकीय स्थितियों और दृश्यों की रचना और संयोजन वह इस प्रकार करते हैं कि एक ओर रोचकता और जिज्ञासा बनी रहती है, दूसरी ओर, अपराधी की खोज और फरियादी के न्याय पर भी ध्यान केंद्रित रहता है। बाज़ार और राजसभा के दृश्य की संरचना बहुत कठिन है। दोनों में बिखराव, एकरसता, पुनरावृत्ति दोष, मिथ्या चमक-दमक आ सकती थी पर आप देखेंगे कि ये दोनों दृश्य संकेतात्मकता, व्यंग्यात्मक टोन और प्रस्तुति पद्धति को किस तरह नई कल्पना और विस्तार देते हैं। भारतेंदु ने बेचने वालों के क्रम, उनकी शब्दावली, उनके निजी टोन और लय के अंतर और स्तर-भेद को बनाए रखा है। कबाब वाला मंच पर आकर सहसा बाज़ार दृश्य की संरचना करता है। भारतेंदु ने बाज़ार के दृश्य में संवादों के लिए लोक-प्रचलित पद्यात्मक पद्धति ली है। पुरुष और स्त्री स्वरों के क्रम से इस दृश्य का आकर्षण बढ़ाया गया है, आप अनुभव कर सकते हैं कि मुगल और जात वाला ब्राह्मण अपने प्रस्तुत क्रम से कहीं पहले एकदम शुरू में ही रखे गए होते तो वह व्यंग्य न उभरता। जाति बेचने की अत्यंत रोचक संरचना सारी पृष्ठभूमि बन जाने के कारण ही सार्थक हुई है। भारतेंदु ने अगर हलवाई, मुगल, जातवाला को अधिक विस्तार और निरंतरता दी है तो वह उनकी नाट्य-रचना का कौशल है। कथा-विन्यास में चुस्ती, संगठन का तारतम्य, आंतरिक व्यंजनाएँ अंधेर नगरी को एक 'पूर्ण नाटक' बनाती हैं। अब आप यह समझ सकते हैं कि राजसभा का दृश्य एक ही स्थान का दृश्य होते हुए भी बोझिल न होकर व्यंजनात्मक इसलिए बनता जाता है क्योंकि उसमें निरंतर नए-नए पात्रों का प्रवेश-प्रस्थान, प्रश्न-उत्तर चलते रहते हैं जिससे परिवर्तनशील गत्यात्मक स्थितियाँ बनी रहती हैं। यथार्थवादी शिल्प अथवा शास्त्रीय शिल्प के चक्कर में न पड़कर लोक-नाट्य की उन्मुक्त शैली के अनुभव और प्रयोग के कारण ही यह दृश्य इतना चुस्त बन पड़ा है। हर दृश्य, हर स्थिति अपने सही अनुपात में है जिसका मुख्य कारण लोकधर्मिता है। अंधेर नगरी का नाट्यशिल्प लोक-नाटकों से प्रेरित माना जा सकता है। मुख्य बात यह है कि इसके नाट्य-शिल्प में भारतेंदु किसी विशेष पद्धति का अनुसरण नहीं करते, न मात्र प्रभाव ग्रहण करते हैं। उन्होंने अपनी मौलिक रचनाशीलता से एक लोकोक्ति को पूर्ण नाटक का संगठित शिल्प दिया है जिसके पीछे सांस्कृतिक चेतना और परम्परागत आधार है - साथ ही नाटककार की युगानुरूप दृष्टि भी। शिल्प का यह सौंदर्य उनकी भाषा की क्रियात्मकता और नाटक के रूप-विधान की स्वतंत्रता के कारण आ सका है जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

3.4 'अंधेर नगरी' का रूप-विधान

जैसा कि आपको बताया गया है, अंधेर नगरी का शिल्प मौलिक और लचीला है। परिणामस्वरूप उसका रूप-विधान सरल, सहज, लचीला और विलक्षण है क्योंकि भारतेंदु ने उसकी रचना किसी एक प्रकार के रूप-विधान में बंधकर नहीं की है। शास्त्रीय दृष्टि से इसे प्रहसन कहा गया है। स्वयं भारतेंदु ने इसे प्रहसन की संज्ञा दी है और प्रहसन का शास्त्रीय लक्षण भी दिया है पर अपने 'नाटक' नामक निबंध में प्रहसन के संदर्भ में वह यह भी लिखते हैं कि 'यद्यपि प्राचीन रीति से इसमें एक ही अंक होना चाहिए किंतु अब अनेक दृश्य दिए बिना नहीं लिखे जाते।' यही भारतेंदु की स्वतंत्र, सजग और मौलिक दृष्टि है जिसके कारण वह अंधेर नगरी में परम्परागत नियमों को स्वीकार तो करते हैं किंतु उसके रूप-विधान में युगानुरूप नवीन प्रयोग करने से भी नहीं हिचकते। इस नाटक के छह अंक अपने वस्तु-चयन, संयोजन और चरम उत्कर्ष में उल्लेखनीय हैं। इसका नाटकीय दृश्य-विधान सरल युक्तियों के साथ चरमोत्कर्ष तक अनायास पहुँचता है। अंधेर नगरी को दृष्टांत शैली का नाटक भी कहा जा

सकता है। जिज्ञासा-समाधान शैली में भारतेंदु एक दृष्टांत का सहारा लेते हुए एक सच्चे अनुभव को प्रमाणित करना चाहते हैं। आपको यह भी बताया गया कि भारतेंदु की मूल चेतना लोकधर्मिता की है अतः **अंधेर नगरी** के रूप-विधान में लोक नाटक जैसा खुलापन, स्वाभाविकता और ताज़गी है। **अंधेर नगरी** की रचना सामान्य जनसमुदाय के लिए लोक परंपरा से कथानक लेकर की गई है जिसमें जनमानस की संवेदना भी निहित है और जन-संस्कार भी। उत्तर प्रदेश के स्वांग और नौटंकी जैसे प्रसिद्ध लोक-नाटकों की पद्धति **अंधेर नगरी** में है पर उनका यथावत् अनुकरण नहीं। दृश्य-परिवर्तन का लचीलापन, पात्रों का प्रवेश-प्रस्थान, संवाद-रचना, काव्य और संगीत, तीव्रता, भंगिमाएँ, नाटक का अंत सब लोक-नाटकों जैसा है। उसमें दृश्यों का जो तारतम्य है, जो अभिनय शैली है, दर्शकों से जो सीधे साक्षात्कार है और प्रवाह है वह लोक चेतना और लोक संस्कृति से जुड़ा है। इसीलिए यह नाटक देश की किसी भी लोक-नाट्य शैली में प्रस्तुत किए जाने का लचीलापन रखता है।

अंधेर नगरी में पारसी नाट्य-शैली में निहित कार्य-व्यापार की तीव्रता, नाटकीयता, उत्तेजना और मनोरंजकता भी है। पारसी नाटकों का विरोध करते हुए भी भारतेंदु जनमानस को प्रभावित करने वाले उसके तत्त्वों के प्रति सजग थे। उनका मुख्य लक्ष्य था - जनजागरण और हिंदी नाट्य-कला का सृजनात्मक विकास। बाज़ार दृश्य का उत्तेजनात्मक आवेग अगर एक ओर नौटंकी की याद दिलाता है तो दूसरी ओर पारसी नाटक की।

अपने रचना-विधान में **अंधेर नगरी** इसलिए भी विलक्षण नाटक लगता है कि उसमें असम्बद्ध स्थितियाँ हैं - बाज़ार, राजसभा, श्मशान के दृश्यों में और पात्रों में कोई सम्बन्ध नहीं है, दृश्यों में क्रमबद्धता नहीं है। उनमें न निश्चित पात्र हैं, न उनका कोई व्यक्तित्व है, न विकास के अवसर। उनकी बातचीत बेतुकी है। सब असंगत (एब्सर्ड) नाटक जैसा लगता है। पूरी नगरी और उस नगरी में होने वाले सारे कार्य सनक-भरे लगते हैं। इसलिए अपनी संरचना में कभी-कभी यह एब्सर्ड नाटक जैसा लगने लगता है। उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि **अंधेर नगरी** का रूप-विधान किसी विशेष पद्धति में बंधा नहीं है। उसमें हमारी परम्पराएँ और आधुनिक चेतना, जन-समूह की शक्ति समन्वित है। **अंधेर नगरी** में 'भारत दुर्दशा' या अपने अन्य किसी नाटक की तरह भारतेंदु ने न मंगलाचरण किया है, न प्रस्तावना और भरतवाक्य। लेकिन वही कार्य महन्त और चेलों के भजन से और अंत में महन्त के दोहे से कराया है जिसका उद्देश्य वन्दना या प्रार्थना नहीं है, न मंगलाचरण। लेकिन नाटकीय उद्देश्य में दोनों सहायक होते हैं। रूढ़ियों से मुक्ति ही इस नाटक के रूप-विधान का मूल सौंदर्य है।

आप देख चुके हैं कि किस प्रकार **अंधेर नगरी** का कथा-विन्यास तारतम्य, प्रवाह, चुस्ती और आंतरिक व्यंजनाएँ लिए हुए है। नाट्य-संरचना में **अंधेर नगरी** नया सर्जनात्मक मोड़ लाता है, नाटक के नवीन सौंदर्यबोध को उजागर करता है। कथानक के साथ पात्रों के चरित्र-चित्रण को लेकर भी भारतेंदु की दृष्टि सजग है। शास्त्रीय नियमों का ज्यों का त्यों अनुसरण न करके वह हिंदी की प्रकृति और युग की आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन चाहते हैं। चरित्र-चित्रण के लिए वे मनुष्य स्वभाव के सूक्ष्म निरीक्षण और अनुभव को, गंभीर आलोचना-दृष्टि को महत्वपूर्ण मानते हैं। इसलिए **अंधेर नगरी** के पात्र नाटककार के आत्ममोह से ग्रस्त, जड़ और आत्मकेंद्रित नहीं हैं, वे वर्गों और प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि अधिक हैं। इन पात्रों को शास्त्रीय आधारों पर नहीं देखना चाहिए। यहाँ पात्र परिकल्पना, पात्रों का चयन पूर्व निर्धारित नहीं लगते। ये पात्र सोद्देश्य और जीवन्त हैं और हमारे बीच के हैं। इन पात्रों की संरचना किसी चौखटे में बंधी नहीं है। नवीन व्यंजनाओं और समकालीन चेतना पर गहरी पकड़ के कारण महन्त भी निर्धारित ढाँचे का साधु या उपदेशक मात्र नहीं लगता। वह लोक से जुड़ा पात्र है। गोबर्धनदास **अंधेर नगरी** का प्रत्यक्षदर्शी, भोक्ता है जो अंधव्यवस्था, अंधन्याय का शिकार होता है। नाटकीय मोड़ों और नाटकीय परिणति का द्रष्टा यह पात्र लोभवृत्ति का प्रतीक है। वह आम आदमी है। नाटकीय व्यंग्य का अमूर्त पात्र बकरी भी है जो सारी न्याय-व्यवस्था को मूर्त करती जाती है। राजा और मंत्री फूहड़पन के साथ शासन-तंत्र, और नौकरशाही प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। यहाँ न धीरोदात्त नायक है, न धीरोद्धत मानव विरोधी विध्वंसक तत्त्व हैं।

आपको यह समझना है कि **अंधेर नगरी** में इन प्रतीक पात्रों के अलावा, अन्य सब पात्र मिलकर एक पूरे समूह की रचना करते हैं जो समूह चेतना को वहन करते हैं। आप पाएंगे कि ये जन-पात्र हैं जिनका उपयोग दृश्य-संरचना, संयोजन के लिए भी किया गया है, व्यंग्यार्थ के लिए भी, जनसंघर्ष और जनशक्ति के लिए भी। ये पात्र सभी जातियों, वर्गों के हैं। ये पात्र वैयक्तिक विशेषताओं से युक्त होते हुए भी व्यक्ति चरित्र नहीं हैं, अतः उनकी चारित्रिक रेखाएँ यहाँ महत्वपूर्ण नहीं हैं, मुख्य है उनकी

समकालीन अर्थ-व्यंजनाएँ। अपने-अपने मूल स्वभाव में आते हुए भी वे संश्लिष्ट, व्यंजक और जीवित पात्र हैं। इतने बड़े समूह को छोटे से नाटक में संभालना तथा वाक्-चातुर्य, जन-संस्कार, अर्थ-सौंदर्य और अभिनयात्मकता से तराशना भारतेन्दु की पात्र-सृष्टि और रचना-विधान की मौलिकता का प्रमाण है जिसमें अंधेर नगरी की नाट्य-भाषा, संवाद-रचना और रंगमंचीय कौशल का भी महत्वपूर्ण योगदान है जिसपर आगे विचार किया जा रहा है।

3.5 भाषिक प्रयोग

भाषा कोई बना-बनाया ढाँचा, निर्धारित और स्थूल वस्तु नहीं है, उसे तो नाटककार नया अर्थ और नया संस्कार देता है। अंधेर नगरी की भाषा सामान्य बोलचाल की भाषा है, सीधी और सरल है पर नितांत सामान्य दीखते हुए भी विलक्षण है। यह भाषा जहाँ यथार्थ का भ्रम पैदा करती है, वहीं नाट्य तत्व इनमें शब्द को क्रिया दे रहा है। दृश्य-तत्व, ऐन्द्रिक अनुभव, बिम्बात्मकता, व्यंजना और संकेत देकर प्रचलित भाषा की पुनर्रचना कर रहा है। अंधेर नगरी में शब्द का अलग से महत्व नहीं है - उस समग्र प्रभाव का है जो उससे ध्वनित होता है - यह ही अंधेर नगरी की विशेषता है। उसका समग्र प्रभाव और व्यंजनाएँ विश्व स्तर पर होने वाले परिवर्तनों और व्यवस्था-चक्र के साथ और अधिक सटीक होते जाने के कारण शाश्वत सौंदर्य से युक्त है।

भारतेन्दु का हर नाटक भाषा के वैशिष्ट्य के कारण विश्वसनीय लगने लगता है। अपने प्रत्येक नाटक के लिए वह भिन्न प्रकार की भाषिक संरचना का प्रयोग करते हैं, शब्दों का भिन्न ढंग से संयोजन करते हैं और उनकी वाक्य-रचना का तरीका भी बदल जाता है। भाषा की बनावट से ही वह अपने नाटक को 'साहित्यिकता से मुक्ति' देते हैं। अंधेर नगरी में आप देखेंगे कि उसकी भाषा कृत्रिम और आरोपित नहीं है, उसमें नाट्य तत्व प्रमुख है और भाषा स्वतःस्फूर्त ढंग से जीवन के बीच से रची हुई लगती है। हिंदी उस समय बन ही रही थी और उसमें उर्दू, अंग्रेज़ी, देशज शब्दों, प्रादेशिक भाषाओं, स्थानीय बोलियों के शब्दों का मिश्रण था। मुहावरे थे पर उसी हिंदी को भारतेन्दु इस नाटक में इतना सार्थक, सर्जनात्मक नाट्य-भाषा में ढाल देते हैं - यह उनकी मौलिकता और रंगानुभूति का परिणाम है। उनके 'नाटक' निबंध को पढ़कर आप जान सकते हैं कि नाटक की भाषा में वाचालता की अपेक्षा मितभाषिता को वह ज्यादा महत्व देते हैं। नाटक में वाक्-प्रपंच नहीं चाहिए, थोड़ी-सी बात में अधिक भाव व्यक्त करना ही उन्होंने नाटक जीवन की महा औषधि माना है। इसके अलावा, वह भाषा के प्रयोग को नाटक की प्रकृति, उसके स्वरूप, उसके वातावरण और चेतना की माँग से जोड़ते हैं।

अंधेर नगरी नाट्य भाषा का सजीव, तीखा और कलात्मक उदाहरण है। शब्दों को उनकी समयानुकूल अपेक्षित भंगिमा मिलती है। अंधेर नगरी अगर चुटीला, समकालीन यथार्थ से टकराने वाला सदाबहार नाटक है तो उसका श्रेय उसके भाषिक प्रयोग को भी है। वह बनी-बनायी भाषा और क्रूर व्यवस्था में एक साथ हस्तक्षेप करता है। 'टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दे' (जातवाला ब्राह्मण का कथन) में सारे बाज़ार का बाज़ारूपन, अवसरवादिता, जातिवादी दृष्टि अर्थात् भ्रष्ट जगत और सांस्कृतिक अवमूल्यन उजागर हो जाता है। गोबर्धनदास के सामने हर चीज़ टके सेर की एक टेक-सी बन जाती है जिससे नाटक के भीतर छिपा व्यंग्य तीखा, मुखरित होता जाता है। भाषा पर ज़रा-सा अनुशासन भंग होने पर बाज़ार दृश्य भौंडा हो सकता था पर भाषाधिकार, लोक जीवन और समकालीन अनुभवों में गहरी पैठ ने इस नाटक को सतही प्रहसन और क्षणिक व्यंग्य होने से बचाया है। अतिरंजनापूर्ण प्रयोग है पर अतिरंजना पर आवश्यक पकड़ भी है।

अंधेर नगरी की भाषा के महत्वपूर्ण गुण अन्य भी हैं जैसे शब्दों की पुनरावृत्ति, लय और टोन। राज-दरबार के दृश्य में दरबारी संस्कृति के विकारों की पुनरावृत्ति, शब्दों को तोड़-मरोड़ और शब्द-प्रयोग में अनेक नाटकीय युक्तियों से उभारा है। इस व्यंजना-सौंदर्य को आप तलाश सकते हैं। आप यह भी पाएँगे कि अंधेर नगरी लोकधर्मी चेतना का नाटक है और उसमें एक काल्पनिक लोक, की सृष्टि की गई है इसलिए उसकी भाषा में एक अद्भुत चमत्कार-सा और यथार्थ के संदर्भ अपने आप घुलते-मिलते चलते हैं। उस भाषा के साथ आप अफसरशाही और अमानवीयता, लोक और भोग की उस नगरी में प्रवेश करते जाते हैं। कभी बनारसी स्पर्श, कभी देशी-विदेशी भाषाओं की छटा से वैविध्य और वैचित्र्य उस भाषा का प्राण-तत्व बनता जाता है। लच्छेदार भाषा, लय और टोन की विविधता से चमत्कार और व्यंजनाएँ दोनों मिलेंगी। नाटककार ने लोक-प्रचलित धुनों और तरीकों से, व्यवहार में आने वाले रोज़ाना

के शब्दों से रोमांचकारी आनंद और व्यंजनाएँ एक-साथ दी हैं। तुकबंदी से, झड़ी लगा देने वाली भाषा से भी पैना व्यंग्य किया है। भारतेन्दु ने इस नाटक में जीवित भाषा की, उच्चारित भाषा की लय को पकड़ा है। यही नहीं, पात्र के अनुरूप शब्द-चयन, वाक्य-रचना और उसकी लय आपको आकृष्ट करेगी। कभी-कभी भाषा में बेतुकापन, टूटी-फूटी निरर्थक बनावट अपनी अर्थहीनता में एक्सर्ड नाटक की तरह बहुत कुछ कहती है। कभी पारसी नाटकों की भाषा की लय, तुकबंदी, चमत्कार, शैली और आवेग, उत्तेजना भी उसमें अनुभव होती है।

बिम्ब और प्रतीक भी अंधेर नगरी की भाषा को विस्तार देते हैं। बाज़ार का दृश्य और श्रव्य बिम्ब रचना है - राजसभा और फाँसी के दृश्य भी। विशेषता यह है कि ये बिम्ब और प्रतीक भी स्थिर या जड़ नहीं हैं, गत्यात्मक, लचीले और जीवन्त हैं। अंधेर नगरी, राजा, फरियादी सब प्रतीक हैं - भ्रष्ट नगरी, सत्तावादी दमनकारी प्रवृत्ति और आम आदमी के। बाज़ार पूरा हिन्दुस्तान है। जंगल, श्मशान भी शून्य और कर्मफल पाने के स्थान का प्रतीक है और अमूर्त बकरी तो पूरे नाटक का मूलाधार है। बकरी मानवीय त्रासदी, करुणा, निष्ठा, संवेदना की स्थापना करती है।

वस्तुतः भाषा को मानवीय क्रियाओं, गतियों, ध्वनियों और व्यंजनों से समृद्ध करना भारतेन्दु की मौलिकता है। अंधेर नगरी की भाषा में लोक का जीवंत मुहावरा है। उसके हर पात्र का लहजा, स्फूर्ति से पूर्ण और ज़िन्दादिली से युक्त है। उसमें भाषा की भीतरी लय से बहुत काम लिया गया है। जो कविता का छंद है, वही अंधेर नगरी में वाक् छंद है। शब्द का सम्भाव्य अर्थ ही उसे नया बनाता है। यही नहीं, इतने छोटे से नाटक में प्रसंगों, विषयों, छोटे-छोटे दृश्यों में भाषा की लय, टोन, बदलती है। यद्यपि भाषा वही है। गोबर्धनदास का लंबा एकालाप भाषा की कसावट के कारण स्वगत जैसा एकरस नहीं लगता क्योंकि उसका स्वर बातचीत का है। इस सारे भाषिक प्रयोग से अंधेर नगरी की संवाद रचना भी गत्यात्मक और नाटकीय व्यंग्य की प्रेरक है। व्यंग्यार्थ और दृश्यात्मक लय की गूँज उसी में मिलती-जुलती है। नाटककार का जो अधिकार भाषा पर है, वही सारे गुण आप उनकी संवाद रचना में देख सकते हैं। जिस प्रकृति का पात्र है, भारतेन्दु ने उसकी संवाद-रचना और भाषा वैसी ही रची है। जीवन का गहन निरीक्षण उनके पास है। इस प्रकार, अंधेर नगरी में सूचनाओं, विश्लेषण, टिप्पणी, आलोचना और विकास की छूट है। अनंत संभावनाएँ हैं जिनसे उसकी समकालीन प्रासंगिकता बढ़ती जाती है।

3.6 रंगमंचीय प्रस्तुति

जैसा कि आप पहले ही जान चुके हैं, भारतेन्दु नाटक शब्द का अर्थ 'रंगस्थ खेल' ही मानते हैं और कहते हैं कि नाटक शब्द का अर्थ है नट लोगों की क्रिया। रंगमंच की उनकी सक्रियता, रंगांदोलन की संगठित योजनाओं और संस्कृत मंच, लोकमंच, पारसी रंगमंच और विदेशी एवं बंगला मंच, मराठी मंच का ज्ञान और अनुभव उन्हें बराबर हिंदी रंगमंच के लिए प्रेरित करता था। इसलिए उनके नाटकों में रंगमंच अलग से कोई विचारणीय प्रश्न या विषय नहीं है, वह नाटक में अंतर्निहित है। चूँकि अंधेर नगरी अपनी संवेदना और शिल्प में एक अत्यंत लचीले कलेवर की, रोचक, मुखर, गठी हुई, गत्यात्मक और तीखी चुभन की नाट्य-रचना है इसलिए उसने हिंदी रंगमंच के लिए सार्थक, सर्जनात्मक चुनौतियाँ प्रस्तुत की हैं।

अंधेर नगरी न विशिष्ट और आभिजात्य मंच का नाटक है, न मात्र लोकमंच का। वह न आधुनिक और यथार्थवादी मंच का नाटक है, न पारसी थियेटर का। यह रंगमंचीय प्रकृति की दृष्टि से सबका नाटक है जिसमें प्रबुद्ध, संवेदनशील अनुभवी दर्शक वर्ग से लेकर हज़ारों का जन-समूह और भीड़ आनंद ले सकती है। यह निश्चय ही 'खेल' है। यह स्वतंत्रता के बाद के हिंदी रंगांदोलन की ही महत्वपूर्ण कड़ी नहीं है पर जब से यह लिखा गया तभी से जन-जीवन और रंगमंच के बीचोंबीच है। बल्कि इसका तो लेखन ही रंगमंडली के आग्रह पर शतों-शत रंगमंच पर प्रस्तुत करने के लिए ही हुआ। लोकमंच और पारसी रंगमंच की तरह रंगकर्म और नाटककार का यह संबंध ध्यान देने योग्य है। अंधेर नगरी जन-रुचि, मनोरंजन, जन-जागरण, कौतुक को समझने के साथ देश-वत्सलता, समाज-सुधार और युगीन आवश्यकताओं को भी रंगमंच द्वारा पूरा करना चाहता है। इस सोदेश्यता और संश्लिष्टता के बारे में आप आरंभ से जानकारी पाते रहे हैं। ऐसे समय जब न हिंदी भाषा का पूर्ण विकास हुआ था, न नाटक कला का स्वरूप स्थिर हुआ था, न हिंदी में रंगमंच का कोई स्वरूप और शास्त्र था और देश पर विदेशी

शासन था, उस समय हंसी-हंसी में नाटक में इतनी पैनी, सटीक, स्पष्ट शब्दों में बातें कह देना और रंगमंच पर बार-बार खेला जाना इस नाटक की शक्ति का सूचक है। इस छोटे से नाटक में सब कुछ है - पूरा युग, पूरा इतिहास, परम्परा और वर्तमान, काव्य और भाषा की लय, गंभीर संकेत, रंगमंच का व्याकरण और अभिनय-शक्ति की चुनौतियाँ भी। आप समझ सकते हैं कि पूरे बाज़ार दृश्य को अगर अभिनेता समूह और निर्देशक व्यापक कल्पना-दृष्टि, समकालीन व्यंग्य और प्रयोगशील तरीके से रच दे तो हर युग, हर काल में वह दृश्य नवीन अर्थों में जीवित हो उठता है।

वर्षों तक अंधेर नगरी का मंचन एक प्रहसन के रूप में होता रहा। यह विदित है कि काशी के हिंदू नेशनल थियेटर ने अंधेर नगरी का सबसे पहले मंचन किया था, बाद में भारतेंदुयुगीन लेखक प्रताप नारायण मिश्र ने कानपुर में इसकी प्रस्तुति (1882) कराई। आलोचक रामचंद्र शुक्ल ने बलिया में (1884) इसके मंचन का उल्लेख किया है। बाद में 1891 से समकालीन हिंदी रंगमंच के उदय के साथ कल्पनाशील निर्देशकों का ध्यान अंधेर नगरी की ओर गया। सत्यप्रत सिन्हा ने अगर इसे आधुनिक वेशभूषा, प्रयोगात्मक शैली में प्रस्तुत किया तो अन्य कई निर्देशकों ने यथार्थवादी शैली और नौटंकी शैली में इसकी प्रस्तुति की। 1978 में ब.व.कारंत द्वारा यक्षगान शैली में इसकी प्रस्तुति एक सर्जनात्मक मोड़ था जिसमें परम्परा और आधुनिकता का, रंगमंच के सौंदर्यशास्त्र और समकालीन जीवन का, रचना और पुनर्रचना का अद्भुत मेल था। आधुनिक भारत में नई सांस्कृतिक क्रांति की आकांक्षा इस नाटक की प्रस्तुतियों से विकसित हुई। इस तरह एक प्रहसन पूर्ण, समग्र, संश्लिष्ट रचना होता गया और व्यंग्यार्थ खुलते गए, रंगमंच की दिशाएँ - संभावनाएँ बढ़ती गईं। जितने ही अधिक इसके मंचन हुए, उतना ही इस नाटक में 'लोकतंत्रीय रंगमंच' और दृश्यात्मक कविता का विस्तार हुआ। भारतेंदु के नाटक दृश्यों के नाटक हैं। वे वाक्यों, संवादों से कम, दृश्यों की कल्पना और दृश्यों के संयोजन से ही अर्थ-विस्तार और लय का वैचित्र्य पैदा करते हैं। दृश्यों के भीतर ही कई नाट्य-रूढ़ियाँ, गतियाँ, लोक-व्यवहार रहते हैं, ध्वनियाँ रहती हैं जिनपर किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं रहती। बाज़ार दृश्य, दरबार दृश्य, फाँसी दृश्य सबमें आप यह महसूस कर सकते हैं। शब्दों के भीतर से अपने आप दृश्य उभरता है, अभिनय-भंगिमा निकलती है। आखिर क्या कारण है कि भय, आतंक के राजनीतिक-सामाजिक वातावरण में भी अंधेर नगरी की प्रस्तुति निःशंक भाव से हो जाती है और बाल रंगमंच, किशोरों और युवाओं के महोत्सवों में भी इसकी प्रस्तुतियाँ होती हैं। निर्देशकों ने इस नाटक को इसकी समकालीन प्रासंगिकता और रंगमंचीय सार्थकता-क्षमता के कारण ही हमेशा उठाया है। (नटरंग, 46, पृ.91) पुरानी पुस्तक 'हरिश्चन्द्र' में भी बाबू शिवनंदन सहाय ने इसके प्रदर्शनों का वर्णन किया है (हरिश्चन्द्र, पृ.198) इसे मराठी सहित कई अन्य भारतीय भाषाओं में भी पेश किया गया है। इन प्रसंगों से अंधेर नगरी में निहित विविधता और हर आयु वर्ग, हर प्रकृति का सामंजस्य ज्ञात होता है। उसकी भीतरी प्रकृति में बड़ी आत्मीयता, सहज उल्लास और चुलबुलापन है।

अंधेर नगरी की भाषा में जो जिन्दादिली, जो लय-विधान है, जो पात्रों के भावानुसार उतास-चढ़ाव है और जो व्यंजनाएँ हैं, उनसे आप परिचित हो चुके हैं। भाषा का वह मौलिक रूप अभिनय को स्वतःस्फूर्त भी बनाता है और नई-नई भंगिमाएँ भी देता है। शब्दों की तोड़-मरोड़, स्थितियों की असम्बद्धता और भाषा की खानगी से यह नाटक स्वतः अभिनय और मंच की सर्जनशीलता को जन्म देता है। पिछली इकाइयों में आपको बताया गया है कि अंधेर नगरी का नाट्य-शिल्प एक-साथ बहुत सुगठित और लचीला है। नाटकीय स्थितियाँ उत्तरोत्तर विकसित होकर नाटक को उत्कर्ष तक ले जाती हैं जो रंगमंचीय सफलता का कारण है। उसके पात्र, बिम्ब, प्रतीक, गीत-संगीत सब हमारे बीच के हैं जिससे उसकी सार्वकालिकता और जीवन की सहज अनुभूतिपरकता बनती है। बिना बाह्य उपकरणों के यह सादे मंच का, खुले मंच का नाटक है जो इसके परम्परागत और प्रयोगात्मक दोनों रूपों को उजागर करता है।

3.7 सारांश

इस इकाई के अंतर्गत आपको अंधेर नगरी के शिल्प, भाषा और रंगमंच की संपूर्ण जानकारी दी गई। आपने जाना कि इस नाटक का शिल्प अत्यंत लचीला, सुगठित, आकर्षक और गत्यात्मक है। किसी भी प्रकार की परम्परागत रूढ़ि या आधुनिक शिल्प के प्रचलित ढाँचे से मुक्त करके भारतेंदु ने इस नाटक को इसका मौलिक और स्वतंत्र शिल्प दिया है। भारतेंदु की विशेषता उन दृश्यों की कल्पना, उनके संयोजन और नाटकीय उत्कर्ष में है। आपको बताया गया कि अंधेर नगरी गहरी व्यंग्यमूलक नाटकीय

स्थिति पर खड़ा है। नाटकीय व्यंग्य का कुशल निर्वाह ही उसे इतना चुस्त और लयात्मक बनाता है। अपने लचीलेपन के कारण यह नाटक यथार्थपरक भी लगता है और शैलीबद्ध भी। इसीलिए इसे सदाबहार नाटक भी कह सकते हैं। यह भी जान चुके हैं कि कथा-विन्यास की गतिशीलता की तरह उसके पात्र भी पूर्व-निर्धारित नहीं हैं, किसी चौखटे में बंधे नहीं हैं, जीवित पात्र हैं। वे नाटकीय व्यंग्य और विश्वजनीन संदर्भों को व्यंजित करने वाले पात्र हैं और प्रतीकात्मक भी हैं लेकिन फिर भी वे विशिष्ट और व्यक्ति-चरित्र नहीं हैं।

आप जान चुके हैं कि अंधेर नगरी के नाट्य-शिल्प और रूप-विधान की यह पूर्णता, यह लचीलापन और गत्यात्मकता उसके भाषिक प्रयोग के कारण भी है। यह भाषा बोलचाल की सीधी-सादी भाषा होते हुए भी अपने प्रयोग की विशेषता के कारण नवीन हो जाती है जो 'साहित्यिकता से मुक्ति' की जीवंत भाषा लगती है। पात्रों के स्वभाव, भावों और स्थितियों के अनुसार यह भाषा अपना स्वरूप ढाल लेती है। इस भाषा के रचाव में भी लोक-चेतना और आधुनिक चेतना एक-साथ काम करती हैं। आपको यह बताया गया है कि अंधेर नगरी के भाषिक प्रयोग में शब्द-चयन, शब्द-संयोजन, शब्दों की पुनरावृत्ति, यहाँ तक कि शब्दों की तोड़-मरोड़ और वाक्य-रचना का टूटा-फूटा होना भी उतना ही रचनात्मक काम करता है जितना ध्वनि, लय, संकेत, व्यंजनाएँ और उनसे उत्पन्न मंगिमाएँ एवं क्रियाएँ।

इकाई में यह भी स्पष्ट किया गया है कि शिल्प, रूप-विधान और भाषिक प्रयोग की सर्जनात्मकता और उनके आंतरिक संबंध ने अंधेर नगरी के रंगमंचीय रूप को भीतर से निखारा है। इस नाटक का मंच न आभिजात्य नाटक का है, न लोकमंच, न यथार्थवादी, न नुक्कड़ नाटक का और न आधुनिक शैली का। यह किसी भी फ्रेम में बंधा न होकर लचीला, मौलिक और अनंत संभावनापूर्ण मंचीय सौंदर्य लिए है जिसमें हर देश, काल का निर्देशक अपनी रुचि और प्रतिभा के अनुसार कल्पना कर सकता है। आप जान चुके हैं कि पहले यह केवल प्रहसन के रूप में खेला जाता रहा। लेकिन अब इसे विविध नाट्य प्रयोगों के साथ खेला जाता है। आप यह भी जान गए हैं कि किसी विशेष शिल्प में बंधा न होकर भी अंधेर नगरी की मूल चेतना लोकधर्मी है। उसके कथानक की बुनावट में ताज़गी है और उसका खुलापन, गायन, नृत्य, गीत, संवाद-उच्चारण, अभिनय-शैली, भाषा सब लोक-नाटकों जैसी है। कौतुक वृत्ति और ज़िन्दादिली उसमें साथ-साथ चलते हैं। उसमें नौटंकी शैली और पारसी नाटकों जैसा आवेग और उत्तेजना भी मिलती है। आप जान चुके हैं कि अंधेर नगरी के बाज़ार दृश्य और राजसभा दृश्य की संरचना बहुत कठिन है। दोनों में बिखराव, एकरसता, पुनरावृत्ति दोष और चमत्कारितकता आ सकती थी पर वे आपको अत्यंत सांकेतिक, व्यंजनात्मक और उतार-चढ़ाव से युक्त लगेंगे - यह नाटककार का रचना-कौशल है। हर दृश्य, हर स्थिति अपने अनुपात में है। इस संगठित शिल्प के पीछे सांस्कृतिक चेतना, परम्परागत आधार, युगानुरूप दृष्टि और जन-संस्कार की निष्ठा है।

इकाई में आपको यह भी बताया गया है कि अंधेर नगरी के नाट्य-शिल्प की तरह उसका रूप-विधान भी मौलिक, लचीला और विलक्षण है। शास्त्रीय दृष्टि से वह प्रहसन है लेकिन प्राचीन लक्षण का अनुसरण करके नहीं। इसे दृष्टांत शैली का नाटक भी कहते हैं पर मूलतः यह लोकधर्मी चेतना से रचा गया है। इसमें स्वांग, नौटंकी के स्वरूप का भी अनुभव किया जा सकता है पर यह इन शैलियों का अनुकरण नहीं है। आपको यह भी बताया गया है कि इसमें समकालीन दृष्टि से शास्त्रीय विधान का प्रयोग भी किस तरह किया गया है। कभी इस नाटक में पारसी नाटक-विधान और अभिनय-शैली लगेगी और कभी एब्सर्ड नाटकों की तरह कथानकहीनता, असम्बद्ध स्थितियाँ, नामहीन, नायकत्वहीन पात्र, बेतुकी बातें, अर्थहीन भाषा मिलेगी पर वह एब्सर्ड नाटक भी नहीं है। अंधेर नगरी हिंदी नाट्य-कला की युगीन ज़रूरतों के अनुसार नाटक के रूप-विधान का उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसकी रंगमंचीय प्रस्तुतियाँ व्यंजनात्मक वैविध्य और समकालीन अनुभवों से कलात्मक होती गईं। समकालीन हिंदी रंगमंच पर इस नाटक की - यक्षगान शैली, नौटंकी शैली, पारसी शैली, यथार्थवादी शैली, नुक्कड़ नाटक, हास्य नाटक आदि - अनेक शैलियों में अविस्मरणीय प्रस्तुतियाँ हुईं जिनसे अंधेर नगरी नाटक की सार्वकालिकता, सांस्कृतिक क्रांति-चेतना खुलकर सामने आती रही है।

अभ्यास

1. रंगमंचीय विशेषताओं की दृष्टि से अंधेर नगरी के महत्व का उल्लेख कीजिए।

2. अंधेर नगरी की भाषिक संरचना और रूप-विधान का विवेचन करते हुए इसकी प्रासंगिक महत्ता को स्पष्ट कीजिए।
3. हिंदी की नाट्य परंपरा को अंधेर नगरी ने किस तरह से प्रभावित किया है?

'अंधेर नगरी' का नाट्यशिल्प

इकाई 4 जयशंकर प्रसाद की नाट्य दृष्टि और 'स्कंदगुप्त'

इकाई की रूपरेखा

- 4.0 उद्देश्य
- 4.1 प्रस्तावना
- 4.2 प्रसाद का नाट्य संबंधी सोच
- 4.3 प्रसाद की नाट्यकला का मौलिक स्वरूप
- 4.4 'स्कंदगुप्त' की रचनाशीलता
- 4.5 सारांश

4.0 उद्देश्य

छायावाद के प्रमुख स्तंभ और प्रख्यात कथाकार जयशंकर प्रसाद की रचनात्मक प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होंने कविताओं और कहानियों के अलावा नाटक और उपन्यास भी लिखे। प्रसाद के नाटक संख्या में ज्यादा नहीं हैं, लेकिन हिंदी में नाट्य साहित्य को समृद्ध करने में उनका योगदान अप्रतिम है। इस पाठ्यक्रम में आप प्रसाद के प्रसिद्ध नाटक **स्कंदगुप्त** का अध्ययन करेंगे। **स्कंदगुप्त** पर कुल तीन इकाइयाँ शामिल की गई हैं। यह उस पर लिखी गई पहली इकाई है और उसमें आप प्रसाद की नाट्य दृष्टि का परिचय प्राप्त करेंगे।

जयशंकर प्रसाद के नाटकों की साहित्यिक उत्कृष्टता पर कोई विवाद नहीं है, लेकिन नाट्य कला और रंगमंचीय प्रस्तुति की दृष्टि से विद्वानों में मतभेद है। इस पक्ष पर सभी दृष्टियों से विचार विमर्श के लिए जरूरी है कि हम यह समझने का प्रयास करें कि जयशंकर प्रसाद का नाट्य संबंधी सोच क्या था। प्रसाद ने नाटकों के बारे में बहुत नहीं लिखा है, लेकिन जो कुछ भी लिखा है, उसके अध्ययन द्वारा हम उनकी दृष्टि को पहचान सकते हैं।

स्कंदगुप्त लिखने से पहले प्रसाद कई अन्य नाटक लिख चुके थे। उनके सभी नाटक ऐतिहासिक घटनाओं और चरित्रों पर आधारित हैं। चाहे **स्कंदगुप्त** हो, या **अजातशत्रु** और **चन्द्रगुप्त**। **ध्रुवस्वामिनी** हो या **राज्यश्री**। ये सभी पात्र ऐतिहासिक हैं और उनके माध्यम से उन्होंने नाट्य रचना द्वारा इतिहास को पुनःसृजित करने का सफल प्रयत्न किया है। वे कारण कौन से थे, जिन्होंने प्रसाद को ऐतिहासिक कथानकों को चुनने के लिए प्रेरित किया, इसे समझने के लिए जरूरी है कि हम प्रसाद के नाटकों से परिचित हों। इस इकाई में आप उनके नाटकों के मौलिक स्वरूप की पहचान करने का प्रयास करेंगे।

प्रसाद के नाटकों में **स्कंदगुप्त** का महत्वपूर्ण स्थान है। **स्कंदगुप्त** भी एक ऐतिहासिक नाटक है। इसकी कथावस्तु गुप्त वंश के प्रसिद्ध सम्राट **स्कंदगुप्त** के जीवन पर आधारित है। **स्कंदगुप्त** का समय 5वीं सदी ई० माना जाता है। यह वह समय है जब देश शकों और हूणों के हमलों से आक्रांत था। **स्कंदगुप्त** ने हूणों के हमलों से अपने राज्य की रक्षा की और आक्रमणकारियों का जबर्दस्त प्रतिरोध किया। जब प्रसाद ने **स्कंदगुप्त** की रचना की, तब देश पर अंग्रेजों का शासन था और आजादी की लड़ाई जारी थी। जाहिर है, देशभक्ति की भावना के प्रसार द्वारा लोगों को ज्यादा से ज्यादा इस संघर्ष में शामिल किया जा सकता था। यह तभी संभव था जब लोग, धर्म, जाति, भाषा और क्षेत्र के मतभेदों से ऊपर उठकर और एकजुट होकर अंग्रेजी शासन के विरुद्ध संघर्ष करते। इसी पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में हमने इस नाटक की रचनाशीलता पर विचार किया है।

उपर्युक्त पहलुओं का अध्ययन करने से आपको **स्कंदगुप्त** नाटक को समझने में मदद मिलेगी, ऐसी आशा है।

4.1 प्रस्तावना

इस खंड की पहली तीन इकाइयों में आपने भारतेन्दु हरिश्चंद्र के प्रहसन **अंधेर नगरी** का अध्ययन किया था। हिंदी में नाटकों की शुरुआत का श्रेय भारतेन्दु हरिश्चंद्र को है, जिन्होंने न सिर्फ कई नाटक लिखे

बल्कि नाटक नामक पुस्तिका द्वारा उन्होंने अपनी नाटक संबंधी अवधारणा को भी प्रस्तुत किया था। नाटक संबंधी भारतेंदु की सोच का विवेचन करते हुए हमने पाया था कि वे आधुनिक हिंदी नाटक के लिए न तो पूरी तरह से संस्कृत नाट्य परंपरा और न ही पाश्चात्य नाट्य परंपरा के अनुकरण को सही मानते हैं। उनके अनुसार नाटक और रंगमंच में समयानुसार फेरबदल होना चाहिए। अंधेर नगरी जिसे उन्होंने प्रहसन कहा है, प्रहसन की संस्कृत नाट्यशास्त्र की परिभाषा के अनुरूप नहीं लिखा गया। उसकी संरचना पर पाश्चात्य नाट्य परंपरा का प्रभाव है, लेकिन उसकी कथा और प्रस्तुति पर भारत की लोक नाट्य परंपरा का भी प्रभाव साफ तौर पर देखा जा सकता है।

भारतेंदु युग के बाद हिंदी में नाटकों के लेखन की परंपरा चल निकली। स्वयं भारतेंदु के समय में कई और लेखकों ने नाटकों का लेखन किया। लेकिन भारतेंदु युग के बाद हिंदी नाटक के क्षेत्र में एक नये परिवर्तन का संकेत हमें छायावाद के दौर में मिला। जयशंकर प्रसाद जितने महत्वपूर्ण कवि थे, उससे कम महत्वपूर्ण नाटककार नहीं थे। 'स्कंदगुप्त' के अलावा उन्होंने चंद्रगुप्त, अजातशत्रु, ध्रुवस्वामिनी, विश्वास, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ, राज्यश्री और एकघूँट नाटकों की रचना की। प्रसाद के नाटक न सिर्फ भारतेंदु युग के नाटक से भिन्न थे, बल्कि स्वयं उनके समकालीन नाटककारों से भी अलग थे।

जयशंकर प्रसाद मूलतः कवि थे। हालांकि वे प्रेमचंद के समकालीन थे, लेकिन उनकी रचनात्मक प्रतिभा प्रेमचंद से काफी भिन्न तरह की थी। यद्यपि दोनों लेखक स्वतंत्रता संघर्ष से गहरे रूप में प्रभावित थे, लेकिन स्वतंत्रता संघर्ष का प्रभाव दोनों पर भिन्न-भिन्न तरह का था। प्रसाद पर राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव भाववादी और सांस्कृतिक था जबकि प्रेमचंद पर यथार्थवादी और सामाजिक। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रसाद पर तत्कालीन सामाजिक यथार्थ का असर नहीं था। और न ही प्रेमचंद सांस्कृतिक और भावात्मक पक्षों की उपेक्षा करते थे। लेकिन दोनों की राष्ट्रीय चेतना की केंद्रीय विशेषता अलग-अलग थी और यही वजह है कि प्रेमचंद ने अपनी अधिकांश रचनाओं में समकालीन यथार्थ को ही अंतर्वस्तु का आधार बनाया है जबकि प्रसाद के नाटक और कहानियाँ अधिकांशतः ऐतिहासिक अंतर्वस्तु पर आधारित हैं। इतिहास के प्रति प्रसाद का दृष्टिकोण क्या था, इसपर विचार हम इकाई-5 में करेंगे।

प्रसादके नाटकों पर विचार करते हुए उनके कवि होने को ध्यान में रखना जरूरी है। प्रसाद के नाटकों में गीतों का बहुलता से प्रयोग ही इस बात का साक्ष्य नहीं है बल्कि नाटक में कथा का विकास, पात्रों के अंतर्द्वंद्व का चित्रण और संवादों की भाषा में भी हम उनके कवि हृदय का प्रमाण पा सकते हैं। 'स्कंदगुप्त' के संदर्भ में हम इस पक्ष की चर्चा इस इकाई में रचनाशीलता पर विचार करते हुए करेंगे।

4.2 प्रसाद का नाट्य संबंधी सोच

जयशंकर प्रसाद ने नाटकों की रचना के साथ-साथ नाटक विधा के बारे में समय-समय पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने इस विषय पर बहुत अधिक नहीं लिखा है, लेकिन जो भी लिखा है, उससे नाटक संबंधी उनके विचारों को समझने में पर्याप्त मदद मिलती है। प्रसाद ने 'हिंदी में नाटक का स्थान नाटकों में रस का प्रयोग, नाटकों का आरंभ और रंगमंच' नामक अपने लेखों में नाटक और रंगमंच पर विचार किया है। नाटक संबंधी उनके विचारों का विवेचन इन निबंधों के आधार पर ही किया गया है।

नाटक संबंधी चिंतन का आधार

जयशंकर प्रसाद ने जब नाटक लिखना आरंभ किया था, तब हिंदी में नाटकों की समृद्ध परंपरा नहीं थी। भारतेंदु युग के लेखकों द्वारा लिखे नाटक ही उनके सामने मौजूद थे। लेकिन उनके समक्ष संस्कृत और पश्चिमी नाटकों की समृद्ध परंपरा मौजूद थी। उनके लेखन से यह जाहिर होता है कि उन्होंने संस्कृत के नाटकों का ही नहीं वरन् संस्कृत में नाट्य संबंधी अवधारणाओं का भी गहरा अध्ययन-मनन किया था। इसके साथ ही वे पश्चिम के नाट्य चिंतन और नाटकों की परंपरा से भी भलीभाँति परिचित थे। भारत में उस समय जो रंगमंच उपलब्ध था, उस पर पश्चिम के नाटकों और रंगमंच का गहरा असर था। लेकिन यह असर दो रूपों में दिखाई देता है। पहला, शिक्षित समाज के लिए खेला जाने वाला आभिजात्य नाटक और दूसरा, जनसाधारण के लिए खेला जाने वाला पारसी रंगमंच। प्रसाद हिंदी पर इस पारसी रंगमंच के प्रभाव को अच्छा नहीं समझते थे और वे पाश्चात्य प्रभाव के इन दोनों रूपों से

भिन्न भारत की अपनी नाट्य परंपरा के अनुरूप हिंदी नाटक और रंगमंच के विकास के समर्थक थे। भारतेन्दु हरिश्चंद्र से भिन्न प्रसाद ने प्रायः अपने नाटकों की रचना में लोकनाट्य परंपरा के प्रभाव को स्वीकार नहीं किया। यह उल्लेखनीय भी है कि प्रसाद ने नाटकों के बारे में अपने लेखन में संस्कृत नाट्य परंपरा का ही हवाला दिया है। पारसी रंगमंच की उनकी कटु आलोचना, जिसका उल्लेख हम आगे विस्तार से करेंगे, को भी सही परिप्रेक्ष्य में समझने की जरूरत है।

जयशंकर प्रसाद नाटक को 'कला का विकसित रूप' मानते हैं। उनके विचार में, नाटक में 'सब ललित सुकुमार कलाओं का समन्वय है।' यह कला का विकसित रूप इसलिए भी है क्योंकि नाटक में दृश्य और श्रव्य दोनों कलाओं की अनुभूति होती है। प्रसाद नाटक का उद्देश्य यह नहीं मानते कि 'जहाँ मनुष्य अपने को भूल जाए और तल्लीन हो जाए।' वे प्रश्न करते हैं कि 'क्या यह हृदय-वृत्ति को (Sentiment) उत्तेजित करके मोह लेना मात्र न होगा? क्या विवेक शुद्ध, बुद्ध-सत्य (Reason) से उसका कुछ भी संबंध होगा? उनके अनुसार, 'जो नाटक मनोभाव का विश्लेषण करके चमत्कार के बल से मोहता हुआ, अंतःकरण में आदर्श सत्य को स्वयंमेव विकसित कर देता है, उसे ... सभी सभ्य जातियों के साहित्य में सम्मान मिला है।' नाटक की यह परिभाषा कई अर्थों में महत्वपूर्ण है। प्रसाद इसमें मनुष्य के मनोभावों की प्रस्तुति के माध्यम से चमत्कार उत्पन्न करने और उसके द्वारा दर्शक के हृदय में सहज रूप से आदर्श को विकसित करने पर जोर देते हैं। सरल शब्दों में कहें तो प्रसाद नाटकीयता और सोद्देश्यता दोनों को नाटक के लिए जरूरी मानते हैं।

प्रसाद ने नाटकों में रस के प्रयोग के संदर्भ में नाटक की भारतीय और पाश्चात्य धारणाओं की तुलनात्मक विवेचना की है। प्रसाद के अनुसार पश्चिम में कला को अनुकरण माना जाता है जबकि यहाँ कला में दार्शनिक सत्य की प्रतिष्ठा की जाती है। भरत के हवाले से वे कहते हैं कि 'आत्मा का अभिनय भाव है। भाव ही आत्म-चैतन्य में विश्रान्ति पा जाने पर रस होते हैं। जैसे विश्व के भीतर से विश्वात्मा की अभिव्यक्ति होती है, उसी तरह नाटकों से रस की।' इस कथन का तात्पर्य स्पष्ट है। यहाँ यह दोहराने की जरूरत नहीं है कि रस सिद्धांत का विकास नाटक के संदर्भ में ही हुआ था। भरत का रस-निष्पत्ति संबंधी प्रसिद्ध सूत्र 'तत्र विभावानुभावव्यभिचारी संयोगाद् रस निष्पत्ति' में तत्र का तात्पर्य रंगमंच ही है जहाँ नाटक का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है। भरत के अनुसार नाटक देखते हुए जो हृदय स्थित भाव है, वही परिपक्व होकर रस रूप में परिणत होते हैं। जब अभिनेता अपने आत्म चैतन्य में तल्लीन हो जाता है तो उसका भाव रस रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार पश्चिम में नाटक के केंद्र में अनुकरण होता है जबकि भारत में रस।

प्रायः यह बात कही जाती है कि भारतीय नाटकों का अंत हमेशा सुख या आनंद में होता है जबकि पश्चिम में बल दुःखान्त पर रहता है। प्रसाद विचार है कि पश्चिम के लोगों को आर्यों के विपरीत उपनिवेशों की खोज में दुर्गम भूभागों में भटकना पड़ा और विपरीत परिस्थितियों से निरंतर संघर्ष करते हुए उन्हें जीवन जीना पड़ा। जीवन की इस कठिनाई पर अधिक ध्यान देने के कारण पश्चिम ने इस जीवन को ही दुःखमय (ट्रेजेडी) समझ लिया। प्रसाद का यह भी मानना था कि 'ग्रीस और रोमन लोगों को बुद्धिवाद - भाग्य से, और उसके द्वारा उत्पन्न दुःखपूर्णता से संघर्ष करने के लिए अधिक अग्रसर करता रहा। उन्हें सहायता के लिए संघबद्ध होने पर भी, व्यक्तित्व के, पुरुषार्थ के विकास के लिए मुक्त अवसर देता रहा, इसलिए उनका बुद्धिवाद, उनकी दुःख भावना के द्वारा अनुप्राणित रहा। इसी को साहित्य में उन लोगों ने प्रधानता दी।' प्रसाद के इस कथन से स्पष्ट है कि पश्चिम के नाटकों में त्रासदी का जोर रहा तो इसीलिए कि उनकी परिस्थितियों ने उन्हें लगातार दुःख और संघर्ष की ओर अग्रसर किया और चूंकि उन्होंने भावना की बजाए बुद्धि पर अधिक भरोसा किया इसलिए उन्होंने इस दुःख को ही जीवन का सत्य समझ लिया। खास बात यह भी है कि प्रसाद इसको सिर्फ नाटकों का ही गुण नहीं मानते वरन् संपूर्ण पश्चिमी साहित्य की विशेषता मानते हैं।

बुद्धिवाद और दुःख को प्रधानता देने के कारण ही प्रसाद के अनुसार पश्चिमी सिद्धांत मनुष्य के 'चरित्र-निर्माण का पक्षपाती' है। नाटक देखकर या कविता पढ़कर यदि मनुष्य अपने को बुराई की तरफ जाने से रोकता है और अपने चरित्र में संशोधन करता है तो साहित्य का लक्ष्य पूरा हो जाता है। मौजूदा साहित्य की दो प्रमुख विशेषताओं व्यक्ति-वैचित्र्य और यथार्थवाद को वे इसी दृष्टि से देखते हैं। स्वयं उनके शब्दों में, 'कहीं व्यक्ति से सहानुभूति उत्पन्न करके समाज का संशोधन है, और कहीं समाज की दृष्टि से व्यक्ति का! किंतु दया और सहानुभूति उत्पन्न करके भी वह दुःख को अधिक प्रतिष्ठित करता है, निराशा को अधिक आश्रय देता है।'

पश्चिम के विपरीत भारतीय परंपरा रस पर आधारित है। इसको प्रधानता देने का मुख्य कारण प्रसाद जी के अनुसार यह था कि आर्यों को पश्चिमवासियों की तरह घरबार छोड़कर इधर-उधर भटकना न पड़ा था। भारतीय आर्य निराशावादी नहीं थे। उनके शब्दों में, 'करुण रस था, उसमें दया, सहानुभूति की कल्पना से अधिक थी रसानुभूति। उन्होंने प्रत्येक भावना में अभेद निर्विकार, आनंद लेने में अधिक सुख माना।' प्रसाद जी का मानना है कि रस में लोकमंगल की भावना प्रच्छन्न रूप में विद्यमान रहती है। भारतीय परंपरा में लोकमंगल स्थूल सामाजिक रूप में नहीं बल्कि दार्शनिक सूक्ष्मता के आधार पर मौजूद रहता है। इसके विपरीत पश्चिम में वासना का आधार रहता है और 'वासना से ही क्रिया संपन्न होती है और क्रिया के संकलन से व्यक्ति का चरित्र बनता है। चरित्र में महत्ता का आरोप हो जाने पर व्यक्तिवाद का वैचित्र्य उस महत्ती लीलाओं से विद्रोह करता है।' इस प्रकार प्रसाद के अनुसार पश्चिम का साहित्य व्यक्ति और समाज की वासनात्मक क्रियाओं से ही संचालित और प्रेरित होता है, और यही कारण है कि उसमें किसी दार्शनिक श्रेष्ठता के दर्शन नहीं होते।

प्रसाद जी के अनुसार रसवाद को अपनाने के कारण मनुष्य की वासनात्मक मनोवृत्तियाँ साधारणीकरण के द्वारा आनंदमय बना दी जाती हैं। इससे मनुष्य की वासना का संशोधन हो जाता है। इससे मनुष्य की विशिष्टता और विभिन्नता समाप्त हो जाती है और उसकी भावनाओं को मानवीय आधार मिल जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से साफ है कि जयशंकर प्रसाद नाट्य रचना के लिए पश्चिम के अनुकरण सिद्धांत, बुद्धिवाद और दुख व निराशा को स्वीकार नहीं करते। वे नाटक में लोकमंगल को स्वीकार करते हुए भी रस को ही उसका लक्ष्य मानते हैं।

नाटक और रंगमंच

आमतौर पर यह मान्यता रही है कि नाटकों की रचना रंगमंच को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए। लेकिन प्रसाद जी इससे सहमत नहीं हैं। उनका स्पष्ट मत है कि नाटकों की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम है। वे इस बात को स्वीकार नहीं करते कि रंगमंच की नाटक में केंद्रीय स्थिति होती है। भारतीय रंगमंच के विकास पर विस्तार से विचार करते हुए उन्होंने इस बात पर बल दिया है। यहाँ यह ध्यान दिलाना आवश्यक है कि प्रसाद के नाटकों की रंगमंचीयता को लेकर हमेशा विवाद रहा है। संभवतः प्रसाद जी भी इस बात के प्रति सजग थे। यही कारण है कि उन्होंने नाटकों पर रंगमंच के दबाव को मानने से इनकार कर दिया। भारतीय रंगमंच की विकास परंपरा पर विचार करते हुए उन्होंने यह साबित करने का प्रयास किया है कि रंगमंच का निर्धारण नाटक से होता है, न कि रंगमंच नाटक को निर्धारित करता है। उन्हीं के शब्दों में, 'रंगमंच की बाध्य-बाधकता का जब हम विचार करते हैं, तो उसके इतिहास से यह प्रकट होता है कि काव्यों के अनुसार प्राचीन रंगमंच विकसित हुए और रंगमंचों की नियमानुकूलता मानने के लिए काव्य बाधित नहीं हुए। अर्थात् रंगमंचों को ही काव्य के अनुसार अपना विस्तार करना पड़ा और यह प्रत्येक काल में माना जाएगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच होते हैं।' इसका कारण प्रसाद के अनुसार यह है कि 'रसानुभूति के अनंत प्रकार नियमबद्ध उपायों से नहीं प्रदर्शित किए जा सकते।'

रंगमंच के बारे में प्रसाद की यह धारणा इसलिए बनी क्योंकि प्रसाद के समय में जो रंगमंच उपलब्ध था, उससे वे संतुष्ट नहीं थे। उनका विचार था कि संस्कृत की जो सबल रंगमंचीय परंपरा थी, उसे मध्य युग में खत्म कर दिया गया। प्रसाद के अनुसार, 'मध्यकालीन भारत में जिस आतंक और अस्थिरता का साम्राज्य था, उसने यहाँ की सर्व साधारण प्राचीन रंगशालाओं को तोड़-फोड़ दिया। धर्मान्ध आक्रमणों ने जब भारतीय रंगमंच के शिल्प का विनाश कर दिया तो देवालयों से संलग्न मण्डपों में छोटे-छोटे अभिनय सर्व-साधारण के लिए सुलभ रह गए, प्रसाद का संकेत लोकनाट्य रूपों की तरफ है जो संस्कृत नाट्य परंपरा के विलुप्त होने के बादजुद लगातार खेले जाते रहे। भारत में लोक नाटकों की परंपरा अति प्राचीन है। अगर हम संस्कृत नाटकों की समृद्ध परंपरा पर विचार करें तो इस बात को आसानी से समझ सकते हैं कि संस्कृत नाटकों में जो प्रौढ़ता और शास्त्रीयता नज़र आती है, वह तब तक संभव नहीं हो सकती, जब तक कि उसके पीछे लोक नाटकों की परंपरा मौजूद न रही हो। लेकिन जहाँ तक मध्ययुग में नाटकों की परंपरा के खत्म होने का सवाल है, तो उसका कारण 'धर्मान्ध आक्रमण' शायद नहीं है। यह एक मिथ्या धारणा है कि मुसलमानों के आगमन के कारण नाटकों का लेखन और मंचन बंद हो गया जबकि सचचाई यह है, कि आठवीं सदी के बाद से ही नाटकों का मंचन काफी कम हो गया था जबकि परंपरागत लोक नाट्य रूपों की प्रस्तुति हमेशा अबाध रूप में जारी रही। नाटकों के लेखन और प्रदर्शन में लगातार कमी आने का कारण शायद यह था कि ब्राह्मण, बौद्ध और

जैन धर्म का अभिजात और पंडित वर्ग नाट्य कला को हीन दृष्टि से देखता था। दूसरे, इस पूरे दौर में राजनीतिक अस्थिरता और सामंतवर्ग की सांस्कृतिक पतनशीलता के चलते भी अभिजात्य रंगमंच आधारित नाटकों को राजाश्रय मिलना बंद हो गया। मुगलों के दौर में जब भक्ति आंदोलन ने एक व्यापक सांस्कृतिक जागरण की स्थिति पैदा की, तब अभिजात्य रंगमंच की वैसी आवश्यकता महसूस नहीं की गई क्योंकि भक्ति आंदोलन जनता के जिस हिस्से के बीच सक्रिय था, उसमें पहले से ही लोक नाट्य की समृद्ध परंपरा मौजूद थी और भक्ति आंदोलन के दौर में इन नाट्य शैलियों का न केवल उपयोग किया गया बल्कि कई नई नाट्य शैलियाँ विकसित भी हुईं। उसी मध्य युग में साहित्य, संगीत, चित्र, स्थापत्य आदि प्रायः सभी ललित कलाओं का अभूतपूर्व विकास हुआ था। अगर मध्यकालीन विदेशी आक्रमणकारी इसका कारण होते, तो इसका असर लोक नाट्य रूपों पर भी पड़ता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। इसलिए प्रसादजी का यह विचार तथ्यपरक नहीं जान पड़ता कि नाटकों की परंपरा का लोप विदेशी आक्रमणकारियों की वजह से हुआ।

प्रसाद ने इसी क्रम में लिखा है कि 'उत्तरीय भारत में तो औरंगजेब के समय में ही साधारण संगीत का भी जनाजा निकाला जा चुका था, किंतु रंगमंच से विहीन कुछ अभिनय बच गये, जिन्हें हम पारसी स्टेजों के आने के पहले भी देखते रहे हैं।' यहां प्रसाद जी का संकेत कतिपय लोक नाट्य रूपों की ओर है। प्रसादजी ने इस बात पर विचार नहीं किया है कि पारसी थियेटर के नाटकों का संबंध क्या इन लोक नाट्य रूपों से भी रहा है या वे सिर्फ पश्चिम के अंधनुकरण से ही विकसित हुए हैं। इस मुद्दे पर विचार करने के लिए पारसी नाटक और रंगमंच की पृष्ठभूमि को जानना जरूरी है।

रंगमंचीय नाटकों को लिखने और खेले जाने की दुबारा शुरुआत अंग्रेजों के शासनकाल में हुई जब कलकत्ता और दूसरे माहनगरों में विदेशी, विशेषकर अंग्रेजी नाटक खेले जाने लगे। उन्हीं के अनुकरण में बाद में भारतीय भाषाओं में भी नाटक लिखे और खेले जाने लगे। रंगमंच आधारित इन नाटकों की दो परंपराओं का विकास हुआ। एक तरह के नाटक वे थे जिनका उद्देश्य नाट्य विधा का कलात्मक विकास करना था और जो नाटकों की रचना और मंचन को सामाजिक सोद्देश्यता से जोड़ते थे जबकि दूसरी तरह के नाटक वे थे जिनका उद्देश्य शुद्ध मनोरंजन था और इस मनोरंजन द्वारा वे थियेटर को व्यावसायिक रूप देना चाहते थे। इस दूसरे प्रकार के रंगमंच को लोकप्रिय बनाने में पारसी रंगमंच का बहुत बड़ा हाथ है, जिसका उल्लेख प्रसादजी ने किया है।

पारसी रंगमंच के बारे में कोई भी राय बनाने से पहले यह जान लेना बहुत जरूरी है कि इसकी शुरुआत किस तरह हुई। 1846 ई० में बंबई के मशहूर व्यापारी जगन्नाथ शंकर सेठ ने बंबई के ग्रांट रोड पर ग्रांट रोड थियेटर के नाम से नए थियेटर की शुरुआत की। शुरु में यहाँ अंग्रेजी में नाटक खेले गए, परंतु जल्दी ही वहाँ गुजराती, मराठी और हिंदी-उर्दू में नाटक खेले जाने लगे। इस थियेटर को न तो सरकारी संरक्षण मिला था और न ही इसे अभिजात वर्ग के दर्शक देखने आते थे। आमतौर पर वहाँ नाविक, सिपाही और छोटे-मोटे व्यापारी, दुकानदार ही आते थे। 1853 तक इस थियेटर में अंग्रेजी में नाटक खेले जाते थे लेकिन जब हिंदुस्तानी दर्शकों की संख्या बढ़ने लगी तो नाटक भी हिंदुस्तानी भाषाओं में खेले जाने लगे। इसी दौरान बंबई में 'पारसी ड्रामेटिक कोर' का जन्म हुआ जिसने ग्रांट रोड थियेटर में 'रुस्तम जबोली और सोहराब' नाम से गुजराती नाटक प्रस्तुत किया। इसकी कथा फिरदौसी के 'शाहनामा' से ली गई थी। इसके बाद तो पारसी थियेटर के नाम से हिंदुस्तानी भाषाओं में नाटकों का सिलसिला चल निकला। यहाँ यह कहना जरूरी है कि शुरु में पारसी थियेटर में फारस (ईरान) की कथाओं को नाटकों का विषय बनाया गया था लेकिन जब हिंदू-मुसलमान दर्शकों की संख्या बढ़ने लगी तो हिंदू-मुस्लिम इतिहास और परंपरा से भी कथानक लिए जाने लगे। पारसी थियेटर के नाटकों में ऐतिहासिक, पौराणिक विषयों का बोलबाला था और उन्हें प्रायः रूमानी और मेलोड्रामाई रूप में प्रस्तुत किया जाता था। हालांकि थोड़ा बहुत प्रभाव ऐलिजाबेथीय थियेटर का भी व्यक्त होता था। पारसी थियेटर के नाटकों का संगीत आमतौर पर शास्त्रीय संगीत था, विशेष रूप से तुमरी, दादरा, झिझोटी आदि का प्रयोग होता था। लेकिन कहीं-कहीं पश्चिमी संगीत का प्रभाव भी झलकता था। पारसी थियेटर में काव्य का स्तर आमतौर पर हल्का और बाजारू किस्म का होता था। शुरु में पारसी नाटकों में संगीत नहीं होता था। संवाद गद्य में होते थे, लेकिन बाद में संगीत और गीत तथ्य पद्यबद्ध संवाद पारसी रंगमंच की खास पहचान बन गए। पारसी रंगमंच के संदर्भ में **इंदर सभा** का उल्लेख करना जरूरी है। **इंदर सभा** के लेखक सैयद आगा हसन थे जो अमानत उपनाम से लिखते थे। इसकी रचना उन्होंने 1853 में की थी और पारसी थियेटर के नाटकों पर इसका जबर्दस्त प्रभाव पड़ा था। **इंदर सभा** में वे सब विशेषताएँ थीं जिन्हें पारसी थियेटर के लोकप्रिय नाटकों में अपनाया गया। चमत्कारपूर्ण

कथा, संगीत, गीत, नृत्य और चुटीले पद्यबद्ध संवाद इंदर सभा की विशेषता थे। 'इंदरसभा' और उससे प्रभावित नाटकों की विशेषता यह थी कि वे सभी कविताबद्ध नाटक हैं जिनमें विभिन्न छंदों और राग-रागिनियों का समावेश किया गया था।

जब प्रसाद ने नाटक लिखना आरंभ किया था, तब पारसी थियेटर अपनी लोकप्रियता के शिखर पर था। हिंदी जन समुदाय के बीच, विशेषकर शहरी लोगों के बीच यह रंगमंच अत्यंत लोकप्रिय था और नौटंकी जैसे कुछ लोकनाट्य रूपों पर भी इसका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता था। इसलिए यह स्वाभाविक था कि प्रसादजी पारसी रंगमंच के प्रभाव से चिंतित होते। प्रसादजी को पारसी थियेटर देखने का अवसर मिला था और वे उसकी विशेषताओं से भलीभाँति परिचित थे। उन्होंने रंगमंच नामक निबंध में विस्तार से इस संबंध में अपने विचार रखे हैं।

प्रसादजी का मानना था कि पारसी रंगमंच ने शेक्सपीरियन स्टेज का अनुकरण किया था। उनका यह कथन कुछ सीमा तक सत्य है, लेकिन पूरी तरह सही नहीं। यह सत्य है कि पारसी रंगमंच की शुरुआत शेक्सपीरियन स्टेज के अनुकरण से हुई थी, लेकिन जब इसके दर्शक अंग्रेजी अभिजात वर्ग की बजाए साधारण लोग हो गए तो, इस मंच पर खेल जाने वाले नाटकों और उसकी प्रस्तुति में भी फेरबदल हो गया। इस परिवर्तन ने थियेटर का बाह्य रूप तो कमोबेश वही रखा, लेकिन आंतरिक संरचना में बदलाव ला दिया। नाटकों की प्रस्तुति में ऐलिजाबेथीयन अभिजात का दबाव काफी कम हो गया। प्रसाद का यह कहना भी कुछ हद तक सही है कि पारसी रंगमंच पर भारतीय रंगमंच का प्रभाव नहीं था। लेकिन ऐसा नहीं है कि उसका भारतीय रंगमंच से कोई संबंध नहीं था। वस्तुतः प्रसादजी जिसे भारतीय रंगमंच कह रहे हैं, वह भारतीय रंगमंच की अभिजात परंपरा है, जिसका प्रभाव कुछ कथानकों को छोड़कर पारसी रंगमंच पर नज़र नहीं आता। लेकिन इंदर सभा, चित्रा-बकावली, चंद्रावली, हरिश्चंद्र आदि जिन नाटकों की उन्होंने चर्चा की है, उनका संबंध भारत की उस नाट्य परंपरा से है, जिसका मूल लोक नाटकों में है। नौटंकी, भाण, आदि नाट्य रूपों को फारसी प्रेम कथाओं और अंग्रेजी रंगमंच से मिलाकर पारसी रंगमंच ने अपना मार्ग बनाया था।

पारसी रंगमंच पर विचार करते हुए प्रसादजी ने लिखा है कि 'दृश्यांतर और चित्रपटों की अधिकता के साथ ही पारसी स्टेज ने पश्चिमी ट्युनों का भी मिश्रण भारतीय संगीत में किया।' उनका कहना था कि यह काम बंगाल ने भी किया लेकिन बंगाल ने इतने भद्दे ढंग से नहीं किया था, जितने भद्दे ढंग से पारसी थियेटर ने किया था। प्रसादजी लिखते हैं, 'पारसी स्टेज में दृश्यों और परिस्थितियों के संकलन की प्रधानता है। वस्तु-विन्यास चाहे कितना ही शिथिल हो, किंतु अमुक परदे के पीछे वह दूसरा प्रभावोत्पादक परदा आना ही चाहिए, कुछ नहीं तो एक असंबद्ध फूहड़ भड़ैती से ही काम चल जाएगा।' प्रसादजी की उक्त आलोचना से साफ है कि एक तो वे इस बात के विरुद्ध थे कि नाटकों में दृश्यों और दृश्यांतरों की प्रधानता हो। बार-बार दृश्यों के बदलने और दृश्यों की संख्या ज्यादा होने को वे उचित नहीं मानते। इस प्रवृत्ति को वे पारसी रंगमंच से जोड़ते हैं। वे इस प्रवृत्ति की भी आलोचना करते हैं कि रंगमंच पर भड़कीले परदे लगाए जाएं। लेकिन ये तो बाहरी ढांचा है, किसी नाटक की रचनात्मक प्रस्तुति में कई आंतरिक तत्व होते हैं, उन्हें भी मद्देनज़र रखने की जरूरत है। प्रसादजी दृश्यों की संख्या ज्यादा होने की आलोचना करते हैं, लेकिन स्वयं उनके नाटकों में दृश्यों की बहुलता है। उदाहरण के लिए, स्कंदगुप्त के पाँच अंकों में कुल 33 दृश्य हैं यानी प्रत्येक अंक में 6 या 7 दृश्य। इसी तरह चंद्रगुप्त के अंकों में तो दृश्यों की संख्या 10 से 14 तक हैं। प्रसाद ने अपने नाटकों में जैसे क्रिया व्यापार शामिल किए हैं, उन्हें मंच पर प्रस्तुत करना नामुमकिन-सा है। उनका प्रभाव उत्पन्न करने के लिए प्रसाद के नाटकों में भी भड़कीले पदों की जरूरत होती है। कहने का तात्पर्य यही है कि प्रसादजी पारसी रंगमंच की आलोचना करते हुए भी उसकी कई विशेषताओं को अपने में समाहित किए हुए हैं। इस मसले पर हम विस्तार से इकाई 6 में विचार करेंगे।

प्रसादजी का मुख्य मुद्दा यह है कि रंगमंच को नाटक की जरूरतों के अनुसार निर्मित किया जाना चाहिए। इस बारे में प्रसादजी का अपना मत स्पष्ट है लेकिन हमें यह देखना होगा कि क्या उनका यह दृष्टिकोण सही है? नाटककार जब यह तय करता है कि वह एक नाटक लिखेगा, तो क्या उसका यह निर्णय ही उसे इस बात से बाँध नहीं देता कि वह रंगमंच पर खेले जा सकने वाले नाटक की रचना करे? अगर नाटक को खेला जाना है, तो उसे रंगमंच की जरूरतों के अनुरूप होना होगा। लेकिन रंगमंच कभी एक-सा नहीं रहा। वह लगातार बदलता रहा है। अगर कोई चीज़ स्थिर है तो यही कि नाटक की प्रस्तुति अभिनय के द्वारा होती है। यह भी आवश्यक नहीं है कि नाटक रंगमंच पर या

प्रेक्षागृह में प्रस्तुत हो। लेकिन अभिनय विहीन नाटक नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि नाटक को खेला जाएगा। इसलिए जब कोई रचनाकार नाटक लिखने को तत्पर होता है तो उसके मन में नाटक की मंचीय प्रस्तुति की कोई संकल्पना अवश्य रहती है। उसी संकल्पना के अनुरूप नाटक की रचना आकार ग्रहण करती है। यह संकल्पना उस रंगमंच का अनुकरण करे जो नाटक की रचना के दौर में मौजूद थी यह आवश्यक नहीं है। लेखक एक नयी तरह की संकल्पना के अनुसार भी नाटक की रचना कर सकता है। ऐसी स्थिति में मंचन के लिए नाटक में अंतर्निहित उस संकल्पना को समझते हुए निर्देशक रंगमंच को नया रूप प्रदान करता है, ताकि नाटक को सफलता के साथ खेला जा सके। इसलिए जब प्रसाद यह कहते हैं कि काव्यों (नाटकों) की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम है और रंगमंच को नाटक के अनुसार अपना स्वरूप धारणा करना चाहिए तो उसका तात्पर्य इतना ही हो सकता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या प्रसाद के नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत करने के योग्य नहीं है? इस प्रश्न का उत्तर दो ढंग से दिया जा सकता है। एक तो यह कि **स्कंदगुप्त** सहित प्रसाद के लगभग सभी प्रमुख नाटक आरंभ से ही मंच पर खेले गये हैं। यही नहीं उनके नाटकों की विविध प्रस्तुतियाँ यह भी बताती हैं कि उनके नाटकों में नवीन प्रयोगों की पर्याप्त संभावना निहित है। दूसरा, यह कि इन प्रस्तुतियों के बावजूद मोहन राकेश के नाटक या हिंदीतर भाषाओं के लोकप्रिय नाटकों की प्रस्तुति की तुलना में प्रसाद के नाटकों को खेलना कहीं ज्यादा चुनौतीपूर्ण रहा है। पात्रों की अधिकता, ऐसी घटनाओं का चित्रण जिन्हें यथार्थवादी रंगमंच पर प्रस्तुत करना असंभव सा है, उनका बाहुल्य लंबे और क्लिष्ट संवाद, दृश्यों की बहुलता आदि ऐसे कई पक्ष हैं, जिनके कारण नाटकों को खेलना आसान नहीं होता। उदाहरण के लिए '**स्कंदगुप्त**' के अंक एक के दृश्य सात का निम्नलिखित रंग संकेत देखें :

भीमवर्मा का प्रस्थान। द्वार का टूटना। विजयी शत्रु-सेनापति का प्रवेश। पुनः भीमवर्मा का आकर रोकना। गिरते-गिरते भीमवर्मा का जयमाला और देवसेना की सहायता से युद्ध। सहसा स्कंदगुप्त का सैनिकों के साथ प्रवेश। युवराज स्कंदगुप्त की जय का घोष। शक और हूण स्तंभित होते हैं।

इस रंग संकेत में युद्ध का यह विवरण चाहे कितना भी विशाल रंगमंच क्यों न हो, एक ऐसे युद्ध का यथार्थ अभिनय प्रस्तुत नहीं कर सकता, जिसे देखकर पाठक कह सकें कि हाँ यह वह युद्ध है जिसने पूरे राष्ट्र को हिला दिया था और जिसका प्रभाव देश के भविष्य पर भी पड़ा था। '**स्कंदगुप्त**' में ऐसे कई प्रसंग हैं। मसलन, अंक तीन का पाँचवा दृश्य का यह रंग संकेत देखें :

नेपथ्य में रणवाद्य। शत्रु सेना आती है। हूणों की सेना से विकट युद्ध। हूणों का मरना, घायल होकर भागना। बंधुवर्मा की अंतिम अवस्था। गरुड़, ध्वज टेककर उसे चूमना।

यहां भी एक बहुत बड़े युद्ध को दो-चार सैनिकों को मंच पर दिखाने से क्या वह प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है, जो वास्तव में होना चाहिए। लेकिन यहाँ एक महत्वपूर्ण पक्ष है, जिस पर विचार करने की आवश्यकता है। प्रसाद के नाटकों में इस तरह दृश्य की उपर्युक्त आलोचना उस यथार्थवादी रंग दृष्टि से उत्पन्न हुई है जिसके अनुसार रंगमंच पर वे ही घटनाक्रम प्रस्तुत किये जाने चाहिए जो यथार्थ और विश्वसनीय लगे। यह रंग दृष्टि हमेशा विवाद का विषय रही है। यहाँ इस बात पर विस्तार से चर्चा करने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन कोई भी कल्पनाशील निर्देशक ऐसे दृश्यों को जिन्हें यथार्थपूर्ण ढंग से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, उसे वह ऐसे सांकेतिक रूप में जरूर प्रस्तुत कर सकता है कि उसका प्रभाव प्रेक्षकों के लिए लगभग वैसा ही हो, जैसा किसी बहुत बड़े युद्ध का होता है। मसलन, रामलीला में सैंकड़ों सालों से राम और रावण युद्ध का अभिनय किया जाता रहा है, और दर्शकों के सामने यह समस्या कभी नहीं आई कि युद्ध का वह दृश्य यथार्थपरक है या नहीं। कहने का तात्पर्य यही है कि नाटककार रंगमंच के उस रूप को भले ही स्वीकार न करे, जो उसके दौर में मौजूद है, लेकिन रंगमंच (या कहना चाहिए नाट्य प्रस्तुति) की कोई संकल्पना उसके मानस में अवश्य विद्यमान रहती है, प्रसाद के संदर्भ में यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि पारसी थियेटर को अस्वीकार करते हुए भी उनकी नाट्य संकल्पना काफी हद तक उससे प्रेरित और प्रभावित है।

4.3 प्रसाद की नाट्यकला का मौलिक स्वरूप

जयशंकर प्रसाद की नाट्यकला के संबंध में उपर्युक्त बातचीत के आधार पर हम कुछ निष्कर्ष निकाल

सकते हैं। पहली बात तो यह कि प्रसाद के लिए नाटक एक साहित्य विधा है और इसी साहित्यिक रचनाशीलता कि रक्षा करना इसकी पहली शर्त मानते हैं। इसी से प्रेरित होकर वे इस बात को बल के साथ कहते हैं कि नाटक की रचना रंगमंच को ध्यान में रखकर नहीं की जानी चाहिए। बल्कि नाटक के अनुसार रंगमंच को रूपांतरित किया जाना चाहिए। प्रसाद के नाट्य संबंधी इसी परिप्रेक्ष्य ने उन्हें यह स्वतंत्रता दी है कि वे नाटकों को मंचित करने के लिए जो आधारभूत अपरिहार्यताएं मानी जाती रही हैं, उनसे वे नाटक लिखते हुए बंधे न रहें। इससे उनके नाटकों का वैशिष्ट्य तो निर्मित हुआ है, लेकिन इसी विशिष्टता के कारण उनके नाटकों को मंचित करना एक चुनौती बना हुआ है। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि प्रसाद के नाटकों को खेला नहीं जा सकता। इसके विपरीत उनके कई नाटक लिखे जाने के बाद से बार-बार भिन्न-भिन्न रंगकर्मियों द्वारा खेले जाते रहे हैं और इनमें से कई प्रस्तुतियां सफल भी रही हैं।

जयशंकर प्रसाद की नाट्य कला के मौलिक स्वरूप को इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए। प्रसाद के नाटकों को इस दृष्टि से देखा जाना चाहिए कि उनकी रचना साहित्यिक कृति के रूप में करने में वे किस हद तक कामयाब रहे हैं। प्रसाद के नाटकों का सही मूल्यांकन इस बात से नहीं होगा कि उनका मंचन कितनी सफलता के साथ किया जा सकता है बल्कि एक रचनात्मक कृति के तौर पर वह कितना प्रभावशाली है। यह प्रसाद के नाटकों की शक्ति भी है और सीमा भी। इस दृष्टि से अगर हम स्कंदगुप्त पर विचार करें तो हम पाते हैं कि भले ही उसका मंचन करने में कठिनाइयां उत्पन्न हो, लेकिन साहित्यिक रचना के रूप में उनका अध्ययन अत्यंत प्रभावशाली है। लोकप्रिय नाटकों की व्यावसायिक परंपरा से नाटकों को मुक्त करने के लिए यह जरूरी था। मनोरंजन और व्यावसायिकता से भिन्न सोद्देश्यता और रचनात्मकता से अनुप्रेरित होकर उन्होंने नाटकों की रचना की। उनके सभी नाटक राष्ट्रीय मुक्ति और नवजागरण की भावना से प्रेरित होकर लिखे गए हैं। राष्ट्रीय मुक्ति के विराट संघर्ष के सामने जो चुनौतियां मौजूद थीं, उन्हीं से उन्होंने नाटकों की कथावस्तु का ताना-बाना बुना है। इसके लिए उन्होंने इतिहास के ऐसे खंडों का इस्तेमाल किया है, जहां इसी तरह के विराट संघर्ष हुए होंगे।

स्कंदगुप्त की कथावस्तु का निर्माण भारतीय इतिहास के ऐसे कालखंड के आधार पर ही किया गया है जब देश एक ओर विदेशी आक्रांताओं (हूणों) से पददलित हो रहा था, तो दूसरी ओर देश के अंदर ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म के बीच तलवारें खिंची हुई थीं अगर हम स्कंदगुप्त को एक रूपक कथा समझें तो हम आसानी से जान सकते हैं कि जो स्कंदगुप्त के समय में हूण हैं, वही स्वयं प्रसाद के समय में अंग्रेज हैं। जो स्कंदगुप्त के समय में ब्राह्मण और बौद्ध हैं, वही प्रसाद के समय में हिंदू और मुसलमान हैं। इस प्रकार प्रसाद इतिहास को इस तरह रचते हैं कि वह समकालीन दौर का ही प्रातिनिधिक रूप बन जाता है।

प्रसाद ऐतिहासिक कथानक उठाते हैं, लेकिन उसका फलक अति विराट होता है। प्रायः उनकी रचनाओं में संपूर्ण राष्ट्र की समस्याएं अभिव्यक्त होती हैं। वे उन्हें सरल रूप में नहीं वरन् जटिल रूप में रखते हैं। उनके सम्मुख राष्ट्रीय और सांस्कृतिक जीवन के विविध रूप उपस्थित रहते हैं। इसी राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में हमें उनके नाटकों को देखना होगा। हिंदी में नाटकों को इतने विराट परिप्रेक्ष्य में रचने का ऐसा उपक्रम बहुत कम हुआ है। इस दृष्टि से प्रसाद के नाटक अन्यतम कहे जा सकते हैं।

प्रसाद के नाटकों में संवादों की भाषा की भी काफी आलोचना की जाती रही है। संस्कृतनिष्ठ, तत्सम शब्दावली और काव्यात्मक विशेषताओं से युक्त भाषा को नाटकों के लिए बहुत उपयुक्त नहीं माना जाता। प्रसाद की भाषा को मोहन राकेश के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि वाले नाटकों से तुलना करने पर प्रसाद के नाटकों की भाषा की सीमा और अधिक उजागर होती है। लेकिन प्रसाद के नाटकों की भाषिक विशेषता के मूल्यांकन का यह उपयुक्त तरीका नहीं है। उनकी नाट्य भाषा को उनके पूर्व के नाटकों की भाषा, तत्कालीन लोकप्रिय नाटकों की भाषा और स्वयं प्रसाद की भाषा के परिप्रेक्ष्य में ही देखना होगा। प्रसाद पारसी नाटकों की उर्दू-मिश्रित हिंदी से नाटकों की भाषा को छुटकारा दिलाना चाहते थे। वह नाटकों की भाषा को साहित्यिक, परिनिष्ठ और रचनात्मक भी बनाना चाहते थे। इन दोनों तरह के प्रयत्नों को वे अपनी भाषा-प्रकृति के साथ ही पूरा कर सकते थे। वे छायावाद के प्रमुख स्तंभ थे, इसलिए छायावाद की काव्य भाषा का असर उन पर जबर्दस्त था, जिसको हम उनके नाटकों की भाषा में भी देख सकते हैं।

लेकिन प्रसाद के नाटकों में कथावस्तु की प्रस्तुति कहानी और उपन्यास की तरह नहीं की गई है। स्कंदगुप्त की कथावस्तु में हमें पर्याप्त नाटकीय तत्व मिलते हैं। पहले अंक के पहले दृश्य में ही पाठक को आभास हो जाता है कि कथावस्तु के केंद्र में कौन-सी समस्या है। पहले अंक के पहले दृश्य से अंतिम अंक के अंतिम दृश्य तक हमें इस समस्या के विभिन्न पहलू, समस्या के समाधान में आने वाली कठिनाइयाँ, संघर्ष की विभिन्न स्थितियाँ और अंत में समस्या का समाधान तक की यात्रा नज़र आती है। स्कंदगुप्त नाटक में कथा का पूरा विकास ही नाटक के रूप में हुआ है। नाटक में संघर्ष की प्रधानता रहती है वह संघर्ष बाहरी हो या आंतरिक। इस दृष्टि से विचार करने पर भी हम यही पाते हैं कि प्रत्येक अंक और प्रत्येक दृश्य में संघर्ष की प्रधानता है। बाहरी आक्रमण से देश की रक्षा का प्रश्न हो, चाहे ब्राह्मणों और बौद्धों का संघर्ष हो या देवसेना, विजया और स्कंदगुप्त का आंतरिक द्वंद्व हो। इस इकाई का उद्देश्य 'स्कंदगुप्त' की कथावस्तु का विवेचन करना नहीं है। लेकिन उपर्युक्त बात से यही कहना चाहते हैं कि प्रसाद ने नाटकों की रचना नाटकों की मूल विशेषताओं को ध्यान में रखकर ही की है।

प्रसाद के नाटकों का एक दोष यह माना जाता है कि उनमें पात्रों की बहुलता होती है। 'स्कंदगुप्त' में ही पच्चीस से अधिक पात्र हैं। नाटक में ज्यादा पात्र होने पर उनके निजत्व को चित्रित करना नाटककार के लिए मुश्किल हो जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि यद्यपि प्रसाद के नाटकों में पात्रों की संख्या ज्यादा अवश्य है, लेकिन कथा के केंद्र में एक-दो पात्र ही होते हैं। जैसे 'स्कंदगुप्त' में स्वयं स्कंदगुप्त और देवसेना। लेकिन प्रसाद की सफलता इस बात में है कि चरित्र छोटा हो या बड़ा उसकी विशिष्टता और महत्व को पूरी तरह से चित्रित करने में वे सफल होते हैं।

4.4 'स्कंदगुप्त' की रचनाशीलता

'स्कंदगुप्त' जयशंकर प्रसाद की एक प्रौढ़ रचना है। ऐतिहासिक कथावस्तु पर आधारित इस नाटक के द्वारा प्रसाद ने अपने दौर के राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष के सम्मुख उपस्थित विभिन्न राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं को स्कंदगुप्त के समय के संदर्भ में रखकर नाटक रूप में प्रस्तुत किया है। स्कंदगुप्त का समय ईसवी की पांचवी शताब्दी जाना जाता है। उस समय भारत में सामंती राज्य व्यवस्था थी। भारत जिसे हम आज एक राष्ट्र राज्य के रूप में जानते हैं, स्कंदगुप्त के समय वह राष्ट्र राज्य के रूप में नहीं था। लेकिन आज जिसे हम भारत कहते हैं, उसके भौगोलिक क्षेत्र के बाहर से लगातार लोगों का आवागमन होता रहा है। आर्यों से लेकर अंग्रेजों तक। लेकिन इन आगमनों को भारत नामक राष्ट्र-राज्य के ऊपर बाहरी आक्रमण के रूप में देखा जाना चाहिए या नहीं, यह एक अलग प्रश्न है।

जयशंकर प्रसाद ने स्कंदगुप्त के दौर की दो विशेषताओं को वर्तमान से जोड़ा है। स्कंदगुप्त के समय हूणों के शासन वाले भारत के उत्तरी इलाकों पर हमला करके स्कंदगुप्त ने उन्हें मुक्त कराया था। उस समय भारत अंदरूनी रूप में एक सशक्त राज्य नहीं था। वह छोटे-छोटे राज्यों में बिखरा हुआ था। हूणों के समय देश में दो प्रमुख धर्म थे ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म। हूण भी बौद्ध धर्मावलंबी थे। स्वयं प्रसाद के समय भी भारत हिंदू और इस्लाम दो धर्मों में बंटा हुआ था। अंग्रेजों को भारत से भगाने के लिए यह जरूरी था कि लोगों में सामंजस्य और एकता स्थापित हो। प्रसाद के साहित्य की मूल चिंता राष्ट्रीय मुक्ति और राष्ट्रीय जागरण था। उसी से प्रेरित होकर उन्होंने अपने अधिकांश नाटकों की रचना की। स्कंदगुप्त में भी हम यही चिंता देखते हैं। प्रसाद की भारतीय इतिहास में गहरी रुचि थी और उसका गहन अध्ययन भी उन्होंने किया था। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं कि भारतीय उपमहाद्वीप पर लगातार बाहरी प्रदेशों से लोगों का आना-जाना लगा रहा। उनमें से कई जातियों ने भारत के विभिन्न प्रदेशों पर शासन भी किया था। प्रसाद इन बाहरी लोगों को हमलावरों के रूप में चिह्नित करते हैं और उनके विरुद्ध संघर्ष को वर्तमान शासकों के विरुद्ध संघर्ष से जोड़ते हैं। 'स्कंदगुप्त' की रचना के पीछे भी यही उद्देश्य था। पांचवी सदी में भारत के उत्तरी और पश्चिम प्रांतों पर हूणों और शकों का शासन था और मालव (उज्जैन) के शासक स्कंदगुप्त ने उनको पराजित किया था। 'स्कंदगुप्त' के इस पराक्रम को वे राष्ट्रीय गौरव के रूप में देखते हैं और मानते हैं कि स्कंदगुप्त के पराक्रम की ज़रूरत आज भी है। ऐसा नायक जो राष्ट्र को बाहरी हमलावरों से मुक्त कराने के अभियान का नेतृत्व कर सके। चंद्रगुप्त, चाणक्य, स्कंदगुप्त आदि ऐसे ही नायक हैं।

प्रसाद के समय राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व कांग्रेस के हाथ में था। कांग्रेस ने भारत जैसे विविध राष्ट्रीयताओं वाले देश को एकता के सूत्र में बांधने का प्रयास किया था। इसके बावजूद धर्म, जाति, क्षेत्र, भाषा आदि की समस्याएं बार-बार उभर आती थीं। राष्ट्रीय मुक्ति का संघर्ष तब तक सफल नहीं हो सकता था जब तक कि विभिन्न धर्मों, विभिन्न जातियों और विभिन्न भाषा-भाषियों के लोगों में एकता स्थापित न हो और वे भारत को अपना वतन मानकर उसके लिए दूसरे हमवतनों के साथ मिलकर संघर्ष के लिए तैयार न हो। राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम की इस केंद्रीय चिंता को प्रसाद ने **स्कंदगुप्त** में भी कथावस्तु का अंग बनाया है। ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म में टकराव, विभिन्न प्रांतों में परस्पर द्वेष और संघर्ष, सत्ता हथियाने के लिए विदेशी हमलावरों से साठगांठ आदि कहीं-न-कहीं प्रसादकालीन राष्ट्रीय संघर्ष की भी समस्याएं थीं और अपने नाटकों के द्वारा वे इनके प्रति लोगों को जागरूक बनाने और एक्यबद्ध करने का प्रयास कर रहे थे।

लेकिन प्रसाद की चिंता सिर्फ राष्ट्र की चिंता ही नहीं थी। वे राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं से जूझते स्त्री-पुरुषों की निजी समस्याओं को भी उतना ही महत्व देते थे। प्रसाद की यह विशेषता रही है कि वे अपने नायकों को अपने लक्ष्य की पूर्ति करने वाला मानव नहीं बनाते थे। वे उन्हें ऐसा मनुष्य बनाते थे, जिसमें भी मनुष्योचित कमजोरियां होती हैं और जिसका हृदय भी टूटता है, जो निराश भी होता है और जिसे कभी-कभी सब कुछ व्यर्थ और सारहीन लगता है। व्यक्ति अपनी भावनाओं और लक्ष्यों के बीच अंतर्द्वंद्व से गुजरकर ही अपनी गतिविधियों को दिशा देता है। उन्हीं गतिविधियों से उसके नायकत्व या खलनायकत्व का निर्धारण होता है। प्रसाद की रचनाशीलता की यह प्रमुख विशेषता है जो उन्हें अपने समाकलीनों से भिन्न और विशिष्ट बनाती है।

प्रसाद की रचनाशीलता की एक अन्य विशेषता यह भी है कि स्त्री-पुरुष संबंधों की जटिलता को भी अपनी रचनाओं का विषय बनाते हैं। यह विशेषता उनके काव्य, नाटक, कहानी और उपन्यास लेखन में देख सकते हैं। **स्कंदगुप्त** में **स्कंदगुप्त**, देवसेना और विजया के बीच संबंधों की जटिलता और उनके अंतर्द्वंद्व के चित्रण के लिए वे अपने नाटक में पर्याप्त अवकाश निकाल लेते हैं और वह कथा के मूल ढाँचे के साथ अत्यंत स्वाभाविक भी लगता है।

4.5 सारांश

जयशंकर प्रसाद के नाटक **स्कंदगुप्त** से संबंधित इस पहली इकाई में प्रसाद की नाट्य दृष्टि और **स्कंदगुप्त** की रचनाशीलता पर विचार किया गया है। प्रसाद ने नाटकों के बारे में बहुत अधिक नहीं लिखा है, लेकिन जितना लिखा है, उससे उनके नाट्य संबंधी सोच को अच्छी तरह समझा जा सकता है।

जयशंकर प्रसाद से पूर्व हिंदी में नाटकों की परंपरा बहुत लंबी नहीं थी। पहली बार नाट्य लेखन की शुरुआत भारतेंदु युग में हुई। हम इस खंड की पहली तीन इकाइयों में भारतेंदु के प्रसिद्ध नाटक **अंधेर नगरी** के बारे में अध्ययन कर चुके हैं। हम यह भी पढ़ चुके हैं कि भारतेंदु ने नाटक संबंधी सोच की भी शुरुआत कर दी थी। प्रसाद की नाट्य दृष्टि भारतेंदु से भिन्न है। प्रसाद के नाट्य संबंधी सोच पर संस्कृत नाट्य-दृष्टि का काफी प्रभाव है। वे नाटक की रचना को रस से जोड़ते हैं और यह भी मानते हैं कि नाटक की रचना मंच के अनुसार नहीं बल्कि मंच को नाटक के अनुसार होना चाहिए। प्रसाद नाटक को कला का विकसित रूप मानते हैं, वे उसे मनोरंजन का माध्यम नहीं मानते। उसका संबंध बुद्धि से नहीं हृदय से जोड़ते हैं। त्रासदी पर अधिक बल दिये जाने का यही कारण मानते हैं।

प्रसाद की नाट्य दृष्टि के निर्माण में तत्कालीन नाट्य परंपरा भी थी। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से पारसी थियेटर के नाम से जो पापुलर थियेटर शुरू हुआ, वह प्रसाद के समय भी मौजूद था। प्रसाद उसकी स्वस्थ लक्षण नहीं मानते थे और हिंदी नाटकों को वे इस **बाजारू** और सस्ते नाटकों से मुक्त करवाना चाहते थे। प्रसाद की नाट्य दृष्टि को इस परिप्रेक्ष्य में भी समझना चाहिए।

प्रसाद के नाटकों को आमतौर पर रंगमंच के अनुरूप नहीं माना जाता। प्रसाद के नाटकों को मंच पर खेलना आसान नहीं होता। प्रसाद के नाटकों में अंक और दृश्यों की संख्या ज्यादा होती है। पात्र भी ज्यादा होते हैं और वे एक ही नाटक में दस-पंद्रह गीत डाल देते हैं। कथा में इतनी तेजी से परिवर्तन

होता है कि उसको अत्यंत कुशल निर्देशक ही संभाल पाता है। नाटकों में संवाद की भाषा को भी मंचन और अभिनय के अनुकूल नहीं माना जाता। इसके बावजूद यह भी सत्य है कि प्रसाद के नाटक बराबर खेले जाते रहे हैं और ऐसे प्रयास प्रख्यात निर्देशकों द्वारा किए गए हैं।

जयशंकर प्रसाद के नाटकों की कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जिनसे उनके नाटकों का मौलिक स्वरूप निर्मित होता है। प्रसाद के नाटकों को सिर्फ रंगमंच पर खेले जाने वाले नाटक की पटकथा के रूप में देखना सही नहीं होगा। वे स्वतंत्र रूप से रचनात्मक कृतियां भी हैं। इस दृष्टि से देखने पर प्रसाद के नाटक का महत्व ज्यादा उचित रूप में उजागर होता है। प्रसाद ने नाटक मनोरंजन और व्यावसायिकता से भिन्न राष्ट्रीय मुक्ति और जागरण तथा रचनात्मक सौंदर्यबोध से अनुप्रेरित होकर लिखे थे। उनके नाटक ऐतिहासिक कथावस्तु पर आधारित होकर भी प्रसाद के अपने समकालीन दौर के प्रतिनिधिक बन सामने आते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रसाद के नाटक नाटक नहीं हैं। उनकी कथा संरचना, चरित्र चित्रण, भाषा, संवाद और अभिनेयता पर विचार करने पर हमें यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि उनके नाटक नाटक ही हैं।

प्रसाद के नाटक स्कंदगुप्त की रचनाशीलता को इसी परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। पांचवी सदी के भारत की राजनीतिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों पर आधारित उनका यह नाटक प्रसाद के अपने समय की चिंताओं को केंद्र में रखकर लिखा गया है। राष्ट्रीय मुक्ति और राष्ट्रीय सांस्कृतिक जागरण को ध्यान में रखते हुए उन्होंने इस नाटक की रचना की है। सांस्कृतिक विविधताओं वाले इस देश के नागरिकों को विदेशी दासता से मुक्त कराने के संघर्ष में एकताबद्ध करने और उनमें गौरव की भावना उत्पन्न करना इस नाटक की केंद्रीय विशेषता है। लेकिन इसके साथ ही उन्होंने स्त्री-पुरुष संबंधों और व्यक्ति के अंतर्संघर्ष को भी अपनी रचनाशीलता में प्रमुख स्थान दिया है। स्कंदगुप्त नाटक पर हम आगे की इकाइयों में जो विचार करेंगे उसके लिए इस पृष्ठभूमि को समझना बहुत ज़रूरी है।

अभ्यास

1. प्रसाद के नाट्य संबंधी विचारों का उल्लेख करते हुए भारतेन्दु के विचारों से उसकी भिन्नता बताइए।
2. प्रसाद के नाटक की मौलिक विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
3. स्कंदगुप्त की रचनाशीलता का आधार क्या है और इसने नाटक को किस तरह प्रभावित किया है, स्पष्ट कीजिए।

इकाई 5 स्कन्दगुप्त में इतिहास दृष्टि और राष्ट्रीय चेतना

इकाई की रूपरेखा

- 5.0 उद्देश्य
- 5.1 प्रस्तावना
- 5.2 स्कंदगुप्त में इतिहास
- 5.3 प्रसाद की इतिहास दृष्टि और वर्तमान संदर्भ
- 5.4 स्कंदगुप्त में इतिहास और कल्पना
- 5.5 स्कंदगुप्त में चरित्र चित्रण की विशिष्टता
- 5.6 स्कंदगुप्त में रस विधान और जीवन मूल्य
- 5.7 सारांश

5.0 उद्देश्य

'नाटक और अन्य गद्य विधाएँ' नामक इस पाठ्यक्रम के इस पहले खंड में आप भारतेन्दु के नाटक **अंधेर नगरी** का अध्ययन कर चुके हैं। इकाई 4 से आप जयशंकर प्रसाद के नाटक **स्कंदगुप्त** के बारे में पढ़ रहे हैं। इस पाँचवीं इकाई में **स्कंदगुप्त** नाटक में इतिहास दृष्टि, राष्ट्रीय भावना और चरित्र चित्रण की विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।

स्कंदगुप्त इतिहास पर आधारित नाटक है। इस नाटक की रचना में इतिहास का किस हद तक निर्वाह हुआ है और कल्पना का संयोजन इतिहास के साथ किस रूप में हुआ है, इस पर विचार किया गया है।

स्कंदगुप्त नाटक की कथा-वस्तु ऐतिहासिक होते हुए भी वह इस अर्थ में समकालीन है कि उसे प्रसाद के समय की राष्ट्रीय स्थितियों से प्रेरित होकर लिखा है। राष्ट्रोत्थान की भावना इस नाटक की भी मूल चिंता है। पराधीनता से राष्ट्र की मुक्ति और इसके लिए सामूहिक प्रयत्न को उन्होंने **स्कंदगुप्त** के समय के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। इकाई में इसी कारण नाटक में व्यक्त राष्ट्रीय भावना और प्रसाद के समय की विशिष्टता पर विचार किया गया है।

प्रसाद के नाटकों में घटना की बहुलता होते हुए भी उन्हें घटना-प्रधान नाटक नहीं कहा जा सकता। प्रसाद के नाटकों को आम तौर पर चरित्र-प्रधान नाटक माना जाता है। चरित्र-चित्रण की पद्धति और पात्रों की चरित्रिक विशेषताओं पर विचार करना प्रसाद के नाटकों को समझने के लिए जरूरी है। इस इकाई में इस महत्वपूर्ण पक्ष पर भी विचार किया गया है। इकाई के अध्ययन द्वारा उपर्युक्त तीनों पक्षों को समझने में आपको मदद मिलेगी।

5.1 प्रस्तावना

इकाई 4 में प्रसाद के नाटक संबंधी सोच और उनके नाटकों की मौलिक विशिष्टताओं का आपने अध्ययन किया है। उक्त इकाई में प्रसाद के नाटक **स्कंदगुप्त** की रचनाशीलता के बारे में भी आप अध्ययन कर चुके हैं। इस खंड के परिशिष्ट-दो में आप प्रसाद के रचना व्यक्तित्व और उनके नाटकों के बारे में पढ़ेंगे। इस इकाई में आप **स्कंदगुप्त** में व्यक्त लेखक की इतिहास दृष्टि और राष्ट्रीय भावना का अध्ययन करेंगे।

आप अगर प्रसाद की रचनाओं से गुज़रे होंगे तो आपने पाया होगा कि उनकी अभिरुचि इतिहास के प्रति बहुत गहरी है। उनकी प्रायः सभी रचनाएँ या तो ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित हैं, या पौराणिक आख्यानों (माइथोलॉजी) पर या ऐतिहासिक कल्पना पर। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि उनकी वर्तमान में कोई रुचि नहीं है। इसके विपरीत, इतिहास की ओर जाने की वजह वर्तमान ही है। यह उनकी रचनात्मकता की खास विशेषता है कि वे इतिहास के माध्यम से वर्तमान की समस्याओं को समझना और उनको हल करना चाहते हैं।

जयशंकर प्रसाद के समय भारत अंग्रेजों की दासता में था और राष्ट्रीय मुक्ति ही उसका सबसे बड़ा लक्ष्य था। प्रसाद की रचनाधर्मिता इसी लक्ष्य से अनुप्रेरित थी। लेकिन राष्ट्रीय मुक्ति की भावना का दायरा राजनीति तक ही सीमित नहीं था। उनकी नज़र में सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी राष्ट्रीय जागरण की आवश्यकता उतनी ही जरूरी थी। इसके लिए वे भारतीय इतिहास के ऐसे कालखंडों का चयन करते हैं जब लगभग इसी तरह के संघर्ष घटित हुए होंगे। **स्कंदगुप्त** नाटक के लिए उन्होंने पाँचवीं सदी के भारत के ऐसे ही कालखंड की कथा-वस्तु को आधार बनाया है, जिनमें लगभग वे सभी समस्याएँ रही हैं, जो प्रसाद के समय में थीं।

स्कंदगुप्त के समय के इतिहास पर बहुत सामग्री नहीं मिलती। लेकिन जितनी भी सामग्री प्रसाद के समय तक प्राप्त हुई है, उन्हीं से उन्होंने **स्कंदगुप्त** के समय के घटनाक्रमों को एक नाटक का रूप प्रदान किया है। स्वयं **स्कंदगुप्त** ऐतिहासिक चरित्र है और इनके अलावा भी कई ऐसे चरित्र हैं जिनका उल्लेख इतिहास में मिलता है। लेकिन नाटक के कई पात्र और कई घटनाओं को उन्होंने कल्पना द्वारा रचा है। कल्पना के प्रयोग के बिना पाँचवीं सदी के कालखंड पर नाटक की रचना करना मुमकिन नहीं था। इसलिए '**स्कंदगुप्त**' में इतिहास दृष्टि पर विचार करते हुए यह जरूरी हो जाता है कि हम उसमें कल्पना की भूमिका को भी अच्छी तरह समझ लें।

जैसा कि हम पहले ही संकेत कर चुके हैं, प्रसाद की मुख्य चिंता राष्ट्रीय चेतना के विस्तार की थी। राष्ट्रीय भावना के इस संदर्भ को ध्यान में रखकर ही हम **स्कंदगुप्त** को समझ सकते हैं। स्वतंत्रता आंदोलन के दौर में राष्ट्रीयता की भावना धीरे-धीरे पनप रही थी। विभिन्न भाषाई, धार्मिक और क्षेत्रीय समुदायों में बंटे इस विशाल देश को राष्ट्रीयता के एकसूत्र में बाँधना आसान काम नहीं था। प्रसाद जी ने राष्ट्रीय जीवन की इन्हीं समस्याओं को **स्कंदगुप्त** में भी उठाया है। इस इकाई में हम '**स्कंदगुप्त**' में व्यक्त राष्ट्रीय भावना और रचनाकार के अपने समय से उसके संबंध को समझने का प्रयास करेंगे। इकाई में **स्कंदगुप्त** में व्यक्त चरित्र-सृष्टि और जीवन-मूल्य पर भी गहनता से विचार किया गया है। प्रसाद के इस नाटक में बहुत अधिक पात्र हैं, लेकिन उनका चित्रण अत्यंत प्रभावशाली ढंग से किया गया है। प्रसाद अपने पात्रों के बाह्य जीवन को राष्ट्रीय जीवन की गतिविधियों और परिप्रेक्ष्य के संदर्भ में रखकर देखते हैं और आंतरिक जीवन को व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक सत्य के संदर्भ में। इन दोनों का वे इस प्रकार संयोजन करते हैं कि इतिहास और वर्तमान, व्यक्ति और समाज नितांत विलक्षण रूप में हमारे सामने उभर आते हैं।

प्रसाद के इस प्रख्यात नाटक के उक्त पक्षों के विवेचन का अध्ययन करने से पूर्व नाटक को आप पूरी सजगता से अवश्य पढ़ें।

5.2 '**स्कंदगुप्त**' में इतिहास

स्कंदगुप्त कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के शासनकाल के अंतिम दिनों में साम्राज्य के अंतर्बाह्य संघर्षों से ग्रस्त ऐतिहासिक परिदृश्य को लक्ष्य करके लिखा गया एक रोमांटिकधर्मी ऐतिहासिक नाटक है। अतीत भारत के इतिहास के इस विशेष कालखंड में गुप्त-साम्राज्य गृह-कलह (विघटनकारी आंतरिक तत्वों) एवं विदेशी आक्रमणों का शिकार बन गया था। भिलसद के स्तम्भ-लेख, मन्दसौर और करमदण्डा के शिलालेख तथा गुप्तकाल की मुद्राओं में इस ऐतिहासिक स्थिति के उल्लेख मिलते हैं। इनमें राजपुरुषों और उनकी उपाधियों के जो नाम मिलते हैं, उनका उपयोग करते हुए प्रसाद ने नाटक की ऐतिहासिकता को अक्षुण्ण रखा है और इस प्रकार इसे ख्यात इतिवृत्तमूलक रूप दिया है। इतिहास के परिदृश्य को अक्षुण्ण रखते हुए ही प्रसाद ने अपनी सर्जनात्मक कल्पना से उसमें मानवीय संबंधों एवं संवेदनाओं, तथा भारतीय दर्शन और संस्कृति के आधारभूत जीवन-मूल्यों को अभिव्यक्त करने के लिए काल्पनिक प्रसंगों को भी बड़ी कुशलता के साथ अवतरित किया है। इन प्रसंगों के अवतरण से इतिहास का मूल परिदृश्य खण्डित नहीं होता है। इसीलिए आलोचक यह मानते हैं कि '**स्कंदगुप्त**' में इतिहास और कल्पना का सुंदर समन्वय हुआ है। इस समन्वय के फलस्वरूप ही इतिहास आत्मवान या प्राणवान प्रतीत होता है। इतिहास के क्षीण कलेवर को कल्पना से सजीव तो किया है, किंतु ऐतिहासिक निष्ठा की क्षति नहीं होने दी है। इसके कारण ही नाटक के कथ्य का मर्मिक प्रभाव पड़ता है। **स्कंदगुप्त** के कथ्य को हम केवल ऐतिहासिक परिदृश्य की अभिव्यक्ति तक ही सीमित नहीं पाते। उसमें जाति को सतत जीवित बनाए रखने वाले तत्वों का भी कुशल विनियोग हुआ है। यही कारण है कि

स्कंदगुप्त ऐतिहासिक नाटक होते हुए भी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना से दीप्त प्रतीत होता है। नाटक की कल्पनात्मकता पर विचार करते समय प्रसाद की इन सर्जनात्मक भंगिमाओं को ध्यान में रखना जरूरी है।

“स्कंदगुप्त” में इतिहास दृष्टि और राष्ट्रीय चेतना

यह इतिहास-प्रसिद्ध है कि गुप्त-साम्राज्य के शासक कुमारगुप्त विक्रमादित्य की दो रानियाँ थीं। अनन्त देवी छोटी रानी थी, जिसके नाम का उल्लेख इतिहास में मिलता है। लेकिन बड़ी रानी के नाम का उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता। अतः प्रसाद ने अपनी कल्पना से उसे देवकी नाम दिया है तथा चारित्रिक गुणों को इतिहास-सम्मत रखा है। वह महादेवी हैं, स्कंदगुप्त विक्रमादित्य की माता हैं, मर्यादा, औदार्य और क्षमा की प्रतिमूर्ति हैं। अनन्तदेवी छल-छद्मशील कुटिल नारी है, जो अपने पुत्र पुरगुप्त को सम्राट बनवाने के लिए षड्यंत्र करती है और गृह-कलह को जन्म देती है। वह क्रूर प्रकृति की नारी है, किंतु रूपवती है। अपने सौंदर्य और शृंगारिक प्रवृत्तियों से वह विलास-जर्जर वृद्ध कुमारगुप्त को अपने वश में कर लेती है। बड़ी रानी देवकी को बन्दी बना देती है। भटार्क से मिलकर वह वृद्ध कुमारगुप्त की हत्या करवाती है तथा कुचक्र करके यह घोषित करवा देती है कि मृत्यु से पूर्व कुमारगुप्त ने पुरगुप्त को गुप्त-साम्राज्य का सम्राट मनोनीत किया है, स्कंदगुप्त को नहीं। यद्यपि देवकी (बड़ी रानी) का पुत्र होने के कारण स्कंदगुप्त गुप्त-साम्राज्य का स्वाभाविक उत्तराधिकारी है, किंतु उत्तराधिकार के विषय में गुप्त-साम्राज्य के नियम अस्थिर हैं। नाटक में इसे नाटकीयता के साथ निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया गया है :

चक्रपालित	:	पिताजी! प्रणाम। कैसी बात है?
पर्णदत्त	:	कल्याण हो, आयुष्मन्! तुम्हारे युवराज अपने अधिकारों से उदासीन हैं। वे पूछते हैं 'अधिकार किसलिए?'
चक्रपालित	:	तात। इस 'किसलिए' का अर्थ मैं समझता हूँ।
पर्णदत्त	:	क्या?
चक्रपालित	:	गुप्तकुल का अव्यवस्थित उत्तराधिकार-नियम।

(अंक 1, दृश्य 1)

गृह-कलह के इस परिप्रेक्ष्य में नाटक की कथा-वस्तु का नाटकीय सौंदर्य के साथ विधान किया गया है। नायक स्कंदगुप्त के आंतरिक पक्ष के रूप में व्यक्त गृह-कलह के साथ बड़े स्वाभाविक ढंग से बाह्य घटनाचक्र को संयुक्त किया गया है। गृह-कलह जनित दुरभिसंधि का ही परिणाम है कि स्कंदगुप्त को पुष्पमित्रों से युद्ध करने के लिए उज्जयिनी भेजा गया है। उसके पक्ष के सभी लोग किसी-न-किसी कारणवश राजधानी से दूर हो गए हैं या बाहरी आक्रमणकारियों - शक-हूणों - से युद्ध करने के बहाने से दूर कर दिए गए हैं।

नाटक में स्कंदगुप्त इन्हीं प्रतिपक्षों से घिरा हुआ बाह्य संघर्ष और अंतर्द्वंद्व से ग्रस्त दिखलाई पड़ता है। इस संघर्ष का कार्य या फल बाहरी आक्रमणकारियों और गृह-कलह जनित आंतरिक विघटन के तत्वों से राष्ट्र-जीवन को निरापद करना है। इसी कार्य की सिद्धि के लिए नाट्य-वस्तु की योजना की गई है, जिसकी अपनी एक मौलिक नाट्य-शैली है। इस नाट्य-शैली में भारतीय रसवादी नाट्य-रीति और पाश्चात्य संघर्षमूलक तत्वों का सुंदर समन्वय है।

5.3 प्रसाद की इतिहास दृष्टि और वर्तमान संदर्भ

प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटकों का सृजन साभिप्राय किया। अपने ऐतिहासिक नाटकों में अतीत के जीवनादर्श एवं देश-भक्त के स्वरूप धर्म, चिरंतनत्व को गौरव-गायन अपने युग की राष्ट्रीय चेतना को प्रेरित करने के लिए ही किया है। उन्होंने छायावादी रोमांस-प्रवणता के साथ स्कंदगुप्त के प्रेम के स्वरूप-धर्म को उसी रूप में रूपायित किया है, जैसा उनके अपने युग में था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है '...यद्यपि प्रसाद के नाटक ऐतिहासिक हैं, पर उनमें आधुनिक आदर्शों और भावनाओं का आभास इधर-उधर बिखरा मिलता है। स्कंदगुप्त और चन्द्रगुप्त दोनों में स्वदेश-प्रेम, विश्व-प्रेम और आध्यात्मिकता का आधुनिक रूप-रंग बराबर मिलता है।' कामना, स्कंदगुप्त, चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु, ध्रुवस्वामिनी आदि नाटकों में आधुनिक युग की जिन समस्याओं का चित्रण हुआ है, उनसे यह विदित होता है जैसे प्रसाद अतीत के इतिहास में अपने समय की राष्ट्रीय-जातीय चिंताओं तथा स्वातंत्र्य के प्रयत्नों और व्यवधानों को प्रतिबिंबित करने का प्रयास कर रहे थे।

प्रसाद जी वस्तुतः अतीत को वर्तमान से कटा हुआ काल-खण्ड नहीं मानते थे। वे इतिहास की इस प्रक्रिया को समझते थे कि कैसे इतिहास की पुनरावृत्ति हुआ करती है। इस प्रक्रिया को दृष्टि में रखकर ही प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटक रचे हैं। उनकी इतिहास संबंधी धारणा सम्यता और संस्कृति की धारणा से मिली हुई है, अतः व्यापक है। इतिहास विषयक अपनी इस समझ का संकेत देते हुए 'अजातशत्रु' की भूमिका में वे लिखते हैं - 'इतिहास से प्रायः घटनाओं की पुनरावृत्ति होते देखी जाती है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसमें कोई नई घटना होती ही नहीं। किंतु असाधारण नई घटना भी भविष्य में फिर होने की आशा रखती है। मानव-समाज की कल्पना का भण्डार अक्षय है, क्योंकि वह इच्छा-शक्ति का विकास है। इन इच्छाओं का, कल्पनाओं का मूल सूत्र बहुत ही सूक्ष्म और अपरिस्पष्ट होता है। जब वह इच्छा-प्राप्ति किसी व्यक्ति या जाति के केंद्रीभूत होकर अपना सफल विकसित रूप धारण करती है, तभी इतिहास की सृष्टि होती है।' इसी नज़रिए से इतिहास को देखते हुए, वे किसी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए इतिहास के आइने का उपयोग अपेक्षित मानते हैं। 'विशाख' की भूमिका में उन्होंने लिखा है - '.....इतिहास का अनुशीलन किसी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यंत लाभदायक होता है.....हमारी गिरी दशा को उठाने के लिए हमारी परंपरा के अनुकूल जो हमारी जातीय सम्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं, इसमें हमें पूर्ण संदेह है।.....मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत-कुछ प्रयत्न किया है।' इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रसाद ऐतिहासिक इतिवृत्त में जातीय जीवन को स्पष्ट करने वाले उन परंपराशील आत्मिक प्रेरकों से हमारा साक्षात्कार कराना चाहते हैं, जो हमारे अपने वर्तमान जीवन को संस्कार देते हुए हमारी जातीय जय-यात्रा को अग्रसर करते हैं। केवल युद्धों का वर्णन ही उनकी ऐतिहासिक दृष्टि की सीमा नहीं है।

प्रसाद के समय का भारत (सन 1930 के आसपास) विषम सांस्कृतिक-राजनीतिक संकट का काल था। भारत में जैसे-जैसे विदेशी शासकों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था, यह दुष्प्रचार भी जोरों से होने लगा कि भारतीय लोग अर्द्ध-सम्य हैं तथा सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से काफी हीन और पिछड़े हुए हैं। उनका न कोई गौरवपूर्ण इतिहास रहा है, न सम्यता या संस्कृति। उसकी तुलना में अंग्रेज़ी सम्यता और संस्कृति बहुत महान् है। इस प्रचार का भारतीय जन-मानस पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ रहा था। अंग्रेज़ों का भारत पर अपना सांस्कृतिक वर्चस्व स्थापित करने का यह एक कलुषित षड्यंत्र था। ऐसे ही विषम संकट-काल में प्रसाद ने भारतीय सांस्कृतिक-आध्यात्मिक चेतना के स्वर को अपने ऐतिहासिक नाटकों के माध्यम से बड़ी प्रखरता के साथ व्यंजित किया था। उनके नाटकों में व्यंजित सांस्कृतिक प्रेरकों को देखकर ही यह कहा जाता है कि 'प्रसाद के नाटक काल्पनिक और स्वतंत्र नहीं वे ऐतिहासिक और सांस्कृतिक हैं। ऐतिहासिक नाटकों की रचना करते हुए भी देश के तत्कालीन संपूर्ण वार्तावरण का भी उन्होंने ध्यान रखा है। वहाँ भी युग की वस्तु से भिन्न कोई वस्तु वे नहीं लाए हैं। उनके नाटकों में इसी कारण एक भास्वरता और सम्पन्नता है।' आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का यह कथन इस बात को स्पष्ट करता है कि प्रसाद ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में बड़ी कुशलता के साथ अपने समय की वर्तमान राष्ट्रीय जीवन की समस्याओं का जो चित्रण किया है उससे वर्तमान की चेतना को नवजागरण का आलोक मिलता है। प्रसाद के नाटक स्पेनिश कवि और नाटककार लोर्का के इस विचार से मेल खाते हैं कि 'रंगमंच किसी देश के आत्मिक उन्नयन के सर्वाधिक उपयोगी एवं सार्थक साधनों में से है - वह तापमापक यंत्र है जो उसके उत्थान-पतन को अंकित करता है।' इसीलिए जातीय संस्कृति के साथ उसके अपने रंगमंच का अटूट रिश्ता होना जरूरी होता है। प्रसाद के नाटकों में अपने जातीय रंगमंच की संस्कृति व्यक्त हुई है। उनमें (नाटकों में) राष्ट्र के प्रति त्याग, और आत्मोत्सर्ग की जो भावना व्यंजित है, वह परंपराशील सांस्कृतिक प्रेरकों और आदर्शों से रची गई है। प्रसाद के नाटक ऐसे हैं जिसमें राष्ट्र अपने सम्राट को उद्धार-युद्ध में सेनानी बनने के लिए पुकारता है, जिनमें वीर विदेशी आक्रमण का सामना करते हैं और 'स्कंदगुप्त' नाटक के बंधुवर्मा की तरह अपने प्राणों की आहुति देते हैं, जिनमें क्षेत्रीयता और साम्प्रदायिकता का खण्डन कर राष्ट्रीय एकता की प्रतिष्ठा की जाती है। स्कंदगुप्त नाटक के अंक-2, दृश्य-5 में यह मंतव्य बहुत मुखर है।

किसी भी समय के इतिहास का एक देशकाल होता है। उस देशकाल का स्वरूप और विकास तीन तत्वों के योग से होता है। एक तत्व विरंजन मूल्यों या जीवनादर्शों का होता है, जो मनुष्य की मनुष्यता को निर्वास्ति करता है। मनुष्यता की पहचान कराने वाले मूल्य जितना एक समय में महत्व रखते हैं, उतना ही दूसरे समय के भिन्न ऐतिहासिक स्थिति में भी सार्थक प्रतीत होते हैं। तप, त्याग, सहिष्णुता, पर दुःखकातस्ता, क्षमाशीलता, हृदय का औदार्य, पारस्परिक प्रेम-भावना, सेवा-धर्म आदि जीवन की ऐसी

विशेषताएँ और व्यवहार होते हैं जिनको सभी समय का नागरिक या सांस्कृतिक समाज महत्व देता है। ये ही मनुष्यता की उच्च-भूमि के बोधक मूल्य हैं जिन्हें प्रसाद के नाटक अत्यंत सशक्त रूप में अभिव्यक्त करते हैं। इस प्रकार की मनुष्यता ही भारतीय जीवन-पद्धति का सांस्कृतिक आधार है, जिन्हें सामने लाना प्रसाद के नाट्य-विधान का प्रधान उद्देश्य है।

देश-कालगत कुछ मूल्य ऐसे होते हैं जिनका महत्व तात्कालिक ही होता है। जीवन के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक कुछ ऐसे विधान होते हैं, जो देश-काल तक ही सीमित होते हैं; एक विशेष देशकाल में तो उनका महत्व होता है, बाद में वे मूल्य सार्थक नहीं होते हैं। ऐतिहासिक नाटकों की रचना करते हुए प्रसाद ने देशकाल के तत्कालीन वातावरण एवं मूल्यों का भी पूरा ध्यान रखा है। इसके कारण उनके नाटक अधिक समयानुकूल अतः प्रासंगिक प्रतीत होते हैं। प्राचीन काल की राजनीतिक व्यवस्था में पदों के नामोल्लेख, उन पदों को संभालने वाले व्यक्तियों के प्रति सम्मानसूचक सम्बोधनों में, व्यक्तियों के सलूक का चित्रण करने में, ब्राह्मण धर्म एवं बौद्ध धर्म की तत्कालीन प्रचलित रूढ़ियों और टकराव के अशोभन एवं काम्य रूपों के चित्रण में, प्रसाद ने तत्कालीन वातावरण एवं मूल्यों का सुंदर निर्देश किया है।

देशकाल की निर्मिति में एक तीसरा तत्व वैयक्तिक अनुभूति-जनित राग-विराग का होता है। व्यक्तियों के चरित्र में कुछ नैसर्गिक भावनाएँ ऐसी होती हैं जो उसके जीवन के सम-विषम, या रस-विरस रूप को व्यक्त करती हैं। प्रसाद के नाटकों में चरित्र-चित्रण इस प्रकार घटित होता है जिसमें वैयक्तिक अनुभूति की खोज का भाव अधिकाधिक सामने आता है। स्कन्दगुप्त में तो इस केंद्र-विशेष से ही चरित्र-चित्रण सम्पन्न हुआ है। नारी-पुरुष के प्रेम-संबंधों के मूल्य की खोज उसकी वैयक्तिक अनुभूति के भीतर से ही की गई है। इस प्रेम के मूल्य-चित्रण में प्रसाद स्वार्थ-लिप्त भोग-परायण रूप को नहीं, अशरीरी रोमाण्टिक भावना को महत्व देते हैं। स्कन्दगुप्त में देवसेना का चरित्र इसीलिए विशिष्ट लगता है क्योंकि उसमें अशरीरी रोमाण्टिक भावना की प्रधानता है, अनंतदेवी और विजया का चरित्र इसीलिए कुरूप लगता है क्योंकि उनकी प्रेमानुभूति स्वार्थ-लिप्सा युक्त एवं भोगोन्मुखी है।

निष्कर्ष यह कि प्रसाद के नाटक ऐतिहासिक देशकाल को उसकी समग्रता में प्रस्तुत करते हैं। उनका ऐतिहासिक बोध एक समय की कुछ लड़ाइयों तक ही सीमित नहीं होता। उस युग-विशेष के व्यक्ति-समाज, आर्थिक दशा, गृह-कलह आदि सभी स्तरों पर नाट्य-वस्तु को विकसित करते हुए जीवन के ऐसे मूल्य प्रस्तुत करते हैं जो उनके अपने युग की स्वतंत्रता-संग्राम की चेतना और सांस्कृतिक नवजागरण के मूल्यों की दृष्टि से सशक्त आधार प्रदान करते हैं। इस अभिप्राय की अभिव्यक्ति करके स्वतंत्रता-संग्राम में संलग्न देशवासियों के लिए राष्ट्रवादी मूल्यों का ठोस आधार प्रस्तुत करते हैं। क्या कुछ राष्ट्र को संगठित करता है और क्या कुछ उसे विघटित करता है, इससे वे हमें अवगत कराते हैं। इस रूप में प्रसाद के नाटकों की समसामयिक सार्थकता है।

5.4 'स्कन्दगुप्त' में इतिहास और कल्पना

स्कन्दगुप्त का कथानक निर्मित करते हुए प्रसाद ने इतिहास और कल्पना के समन्वय में भी अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। प्रसाद इतिहास को अतीत की स्थूल घटनाओं का उल्लेख ही नहीं मानते, अपितु उन घटनाओं के संदर्भ में मानवात्मा की जय-यात्रा का संधान भी करते हैं। इसी अन्वेषण में तत्पर प्रसाद की सर्जनात्मक कल्पना स्कन्दगुप्त की स्थूल घटनाओं के ताने-बाने के बीच से ही अंतर्वस्तु के नाना-विध रूप-रंगों को संयोजित करती रहती है। यही उनके नाट्य-वस्तु-विधान की निजी मौलिकता है। उनके नाट्य-विधान में अंतर्वस्तु का चमत्कार एवं विस्तार बाह्य वस्तु-योजना (स्थूल ऐतिहासिक घटनाओं के क्रम-विकास) से अधिक या विशिष्ट है। नाटक में अंतर्वस्तु कहीं दर्शन और संस्कृति की अन्तःप्रेरणा के दिग्दर्शन के रूप में संयोजित है (इस दृष्टि से स्कन्दगुप्त का अंक 5 दृश्य 2 और अंक 2 का दृश्य 1 द्रष्टव्य है); कहीं रहन-सहन की पद्धतियों और उन्नति-अवनति के कारणों के विश्लेषण में प्रत्यक्ष होती है; मनोभावों या अंतर्द्वंद्वों के चित्रण में प्रकाशित होती है; विचारधाराओं और सामाजिक-धार्मिक संस्थाओं की स्थितियों के चित्रण के रूप में नियोजित हुई है। अंतर्वस्तु के दबाव के कारण ही एक अंक में अनेकानेक दृश्यों को अवतरित करना पड़ा है। अंतर्वस्तु की योजना बाह्य घटना-व्यापार से बिल्कुल अलग-थलग पड़ी हुई तो नज़र नहीं आती, किंतु इससे कथा-वस्तु का

अतिरिक्त विस्तार अवश्य हुआ है। अंतर्वस्तु को रंग-प्रयोग में समेट कर दिखलाना दुष्कर अवश्य प्रतीत होता है।

'स्कंदगुप्त' के कथानक का ऐतिहासिक स्रोत और उसमें कल्पना के रूप-रंग

प्रस्तुत नाटक की कथा-वस्तु अतीत भारत का स्वर्ण-युग कहे जाने वाले गुप्त-साम्राज्य के उस काल-खण्ड से संबंधित है, जब उसमें विघटन की स्थितियाँ पैदा हो गई थीं। पाँचवीं शताब्दी में कुमारगुप्त महेंद्रादित्य, गुप्त-साम्राज्य का सम्राट बना। वह विलासी प्रकृति का शासक था। उसकी दो रानियाँ थीं - देवकी और अनन्तदेवी। देवकी बड़ी रानी थी। इतिहास में बड़ी रानी का नामोल्लेख प्राप्त नहीं है, किंतु कोई नाम होना तो स्वाभाविक है, अतः नाटक में प्रसाद ने उसे अपनी कल्पना से देवकी नाम दे दिया है। देवकी उदारमना नारी थीं। उनका यह इतिहास-सम्मत चरित्र नाटक में बरकरार है। स्कंदगुप्त उन्हीं का पुत्र था। महादेवी (महारानी) का पुत्र होने के नाते गुप्त-साम्राज्य का उत्तराधिकारी भी था। किंतु छोटी रानी अनन्तदेवी एक महत्वाकांक्षिणी नारी थी। अपने जीवन के अंतिम दिनों में कुमारगुप्त पूरी तरह अनन्तदेवी के अधीन हो गया था। अनन्तदेवी अपने पुत्र पुरगुप्त को गुप्त-साम्राज्य का उत्तराधिकारी बनाने के लिए कृतसंकल्प थी। इसके फलस्वरूप देवकी एवं स्कंदगुप्त के विरुद्ध षड्यंत्रों और गृह-कलह का सिलसिला शुरू गया था। यह एक इतिहास-प्रसिद्ध तथ्य है कि अनन्तदेवी और भटार्क भिन्न-भिन्न कारणों से स्कंदगुप्त के विरोधी थे। इतिहास में इस बात का जिक्र नहीं मिलता कि अनन्तदेवी के स्कंदगुप्त-विरोधी षड्यंत्र में भटार्क भी सम्मिलित था। प्रसाद ने नाटकीय संघर्ष को तीव्रता प्रदान करने के हेतु उनके सहयोग की कल्पना कर ली है।

इतिहास के साक्ष्यों को सुरक्षित रखते हुए प्रसाद अपनी सर्जनात्मक कल्पना से ऐसे पात्रों और प्रसंगों की उद्भावना कर लेते हैं जिनसे नाटक का देशकाल और ऐतिहासिक बोध प्रणवान हो उठता है। स्कंदगुप्त में बहुत-से ऐसे पुरुष-पात्रों, स्थानों, प्रसंगों को अवतरित किया गया है जो काल्पनिक हैं। किंतु वे इतिहास के देशकाल और वातावरण के विपरीत होने का आभास नहीं देते। वे देशकाल और वातावरण की सामान्य दशा एवं सांस्कृतिक वैचारिकता को व्यक्त करने के माध्यम हैं। वे मानवीय जीवन के उस पक्ष को सामने रखते हैं, जिनके विषय में इतिहास मौन रहता है। इस नाटक में खिंगल, प्रपंचबुद्धि, मुद्गल, प्रख्यातकीर्ति आदि पुरुष-पात्र प्रसाद की कल्पना की ही उपज हैं। नारी-पात्रों में जयमाला, देवसेना, विजया, कमला, रामा, मालती भी कल्पित पात्र हैं। इसी प्रकार, मालव द्वारा स्कंदगुप्त से सहायता माँगना, मालव पर हूणों का आक्रमण, अनन्तदेवी, प्रपंचबुद्धि एवं भटार्क के षड्यंत्र से जुड़े प्रसंग जैसे श्मशान भूमि का प्रसंग, कुमा की रणभूमि में स्कंदगुप्त का लहरों में बह जाना, देवसेना तथा विजया का स्कंदगुप्त की ओर आकृष्ट होना, मातृगुप्त और कालिदास का एक ही पात्र होना, मातृगुप्त और मालिनी का प्रेम-प्रसंग आदि नाटक के कथानक में गूँथे हुए काल्पनिक प्रसंग ही हैं। उनका संबंध किसी-न-किसी रूप में (पक्ष या प्रतिपक्ष के पात्र के रूप में) स्कंदगुप्त के साथ जुड़ा हुआ है। ये प्रासंगिक कथाओं के रूप में नाटक में आते हैं। नाटक के साध्य को निखारने में, उद्देश्य को रेखांकित करने में तथा नायक की फल-प्राप्ति में बाधक या साधक बनकर नाटक के अंतर्बाह्य संघर्षों को गति देने में इनका अपना योगदान है। मूल कथा-वस्तु का ताना-बाना इतिवृत्त-प्रधान बना रहता है। कल्पित पात्र और प्रसंग उसमें कोई ऐसी बाधा पैदा नहीं करते जिससे ऐतिहासिकता को क्षति होती हो। अपितु वे देशकाल के वातावरण को सजीव बनाते हैं, इतिहास के भीतर निहित संस्कृति को प्रकाशित करते हैं। इसीलिए कहा जाता है कि प्रसाद के 'ऐतिहासिक नाटक सांस्कृतिक हैं।' स्कंदगुप्त इसका ज्वलंत उदाहरण है।

नाटक के वस्तु-तत्त्व को प्रभावित करने वाला एक अन्य संदर्भ प्रेम-प्रसंगों का है। इस प्रसंग की अंतर्वस्तु नाटक के मुख्य क्रिया-व्यापार को कहीं अनुकूल तो कहीं प्रतिकूल रूप से प्रभावित करती हुई प्रारंभ से अंत तक संग्रथित है। नाटक में प्रणय-प्रसंगों से जुड़े मनोभावों को चित्रित करने में प्रसाद की गीतिधर्मी कल्पना-शक्ति बहुत उद्देलित हो उठती है। कथा-वस्तु की गत्यात्मकता की उपेक्षा करके भी वे प्रणयानुभूतियों और प्रेमादशों को चित्रित करने के लोभ का संवरण नहीं कर पाते हैं।

'स्कंदगुप्त' के प्रायः सभी अंकों में युद्ध के साथ प्रेम-प्रसंग तथा गृह-कलह की कथा-व्यथा लिपटी हुई है। प्रसाद का यह विश्वास रहा है कि मानव-जीवन के श्रेष्ठ गुण, मान-या मूल्य नारी के कारण ही पृथ्वी पर टिके हुए हैं। इसीलिए प्रस्तुत नाटक में नारी-चरित्रों के प्रेमादशों के माध्यम से प्रसाद ने भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल आदर्शों को, मूल्यों को प्रकाशित करने का प्रयास किया है। नारियों के प्रेम में जो उत्सर्ग, तप, त्याग, उच्चता, सौम्यता और क्षमताशीलता मिलती है, वह भारतीय संस्कृति का

प्राण-तत्त्व है। नाटक के नारी-पात्र कमला, रामा, देवसेना, देवकी आदि के चरित्र में जो उत्सर्ग, उच्चता और सौम्यता लक्षित है, वे प्रसाद की दृष्टि में भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्व हैं। नाटक में विजया और अनन्तदेवी के रूप-गर्व और वासनात्मक प्रेम का असत् रूप चित्रित करके सत् प्रेम को अधिकाधिक निखारने का प्रयत्न किया गया है। स्कंदगुप्त के पाँचवें अंक की योजना के अन्य उद्देश्यों के साथ एक उद्देश्य यह भी है कि असत् नारी पात्रों (विजया, अनन्तदेवी) और पुरुष-पात्रों (भटार्क, शर्वनाग) का हृदय-परिवर्तन करके उन्हें राष्ट्र-हित और राष्ट्रोद्धार के कार्यों में लगाया जा सके। स्कंदगुप्त में स्वयं स्कंदगुप्त जब मोह-ग्रस्त होते हुए देवसेना से कहता है - 'देवसेना! एकान्त में किसी कानन के कोने में, तुम्हें देखता हुआ, जीवन व्यतीत करूँगा। साम्राज्य की इच्छा नहीं। एक बार कह दो।' तो देवसेना अपनी श्रेयगर्भित प्रेम-भावना का परिचय देती हुई कहती है - '.....तब तो और भी नहीं। मालव का महत्त्व तो रहेगा ही, परंतु उसका उद्देश्य भी सफल होना चाहिए। आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी।'

प्रसाद के सभी ऐतिहासिक नाटकों में इसी ढर्रे का रोमांस-प्रवण प्रेमादर्श प्रकट हुआ है। स्कंदगुप्त में शृंगास्मूलक प्रेम की जो अंतर्धारा बही है, उद्देश्यों से उच्च मानव प्रेरित है, राष्ट्र-प्रेम की संवेदना को तीव्र करने की हेतु है। इस धुरी से हटा हुआ प्रेम प्रसाद की नज़र में प्रेम का बेसुरा राग है।

5.5 'स्कंदगुप्त' में चरित्र-चित्रण की विशिष्टता

प्रसाद की नाट्य-कला का मूलभूत सौंदर्य चरित्र-चित्रण में निहित है। चरित्र-चित्रण को विशेष महत्त्व देने के कारण प्रसाद ने इतिहास के चरित्रों में तीव्र मानवीय अंतर्द्वंद्व की सृष्टि की है। उन्होंने पात्रों के अंतर्द्वंद्व एवं मानसिक संघर्ष को मनोवैज्ञानिक कुशलता के साथ स्पष्ट किया है। इस प्रकार उन्होंने व्यक्तित्व-सम्पन्न चरित्रों की सशक्त एवं प्राणवान सृष्टि की। उनके नाटकों में चरित्र-सृष्टि वैविध्यपूर्ण है एवं प्रत्येक पात्र की अपनी अलग पहचान बनती है। यहाँ तक कि विदूषक पात्रों का भी गंभीर दार्शनिक व्यक्तित्व प्रकट हुआ है। वे परंपरागत विदूषक से सर्वथा भिन्न दिखलाई पड़ते हैं। वे परिहासप्रिय, किंतु चिंतनशील पात्र होते हैं।

प्रसाद के नाटकों में नियति जैसे अव्यक्त पात्र की भी अपनी एक विशिष्ट रंग-भूमिका होती है। पात्रों की विवशताओं, कथनों और क्रियाओं में उसके जीवित हस्तक्षेप का अहसास सुलभ होता है। प्रसाद ने नियति की कल्पना एक ऐसी दैवी शक्ति के रूप में की है जो अध्यात्म और इहलोक के समन्वय में सतत सजग और तत्पर रहती है। वह विश्व-भर के हित को लक्ष्य करके पात्रों की क्रियाओं को संयमित करती है। जनमेजय का नाग यज्ञ में व्यास का कथन वस्तुतः प्रसाद की नियति संबंधी अवधारणा को ही प्रकाशित करता है। व्यास कहते हैं - 'नियति कर्तव्य मद से मत्त मनुष्यों की कर्मशक्ति को अनुचरी बनाकर अपना कार्य कराती है।.....नियति नियंत्रित इस क्रियात्मकता में व्यक्तिगत इच्छा-पूर्ति या उपलब्धियों को महत्त्व नहीं मिलता; 'सर्वभूतहित' की कामना ही पर लक्ष्य होता है।' इस प्रकार प्रसाद की नियतिवादी कल्पना में आनंदवाद की छाप है। प्रसाद के नाटकों में क्रिया-व्यापार की भंगिमा का मर्म समझने के लिए नियति के हस्तक्षेप का उक्त स्वरूप समझना भी जरूरी है। प्रसाद का नियतिवाद निष्क्रियता और निश्चेष्टता की ओर नहीं ले जाता, बल्कि वह कर्म करने की प्रेरणा जगाता है। वह कोई ऐसा भाग्यवाद या प्रारब्धवाद नहीं है जो पुरुषार्थ के प्रतिकूल पड़ता हो। नियतिवाद की इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर ही स्कंदगुप्त में भटार्क के हृदय-परिवर्तन का मर्म समझा जा सकता है और स्कंदगुप्त के अंतर्द्वंद्व-ग्रस्त मन की कर्ममूलक दिशा का रहस्य समझ में आ सकता है।

स्पष्ट है कि प्रसाद के नाटकों में नियति एक अदृश्य पात्र की तरह आती है और नाटक के रंग-व्यापार को नियंत्रित करने में अपनी भूमिका अदा करती है। नियति रंग-व्यापारों को या नाटक के क्रिया-व्यापारों पर बड़ी कठोरता से नियंत्रण करती है। नियति का यह अंकुश ही पात्रों के व्यवहार को स्वेच्छाचरिता से बचाता है तथा उन्हें 'समष्टि-मात्र के लिए प्रसन्नता लाने वाले कर्मों में नियोजित करता है। प्रसाद के नाटकों में हम बराबर यह देखते हैं कि जहाँ अविवेक है, मोहान्धता है, व्यवहार में बेसुरापन है, वहाँ नियति के सचेतन हस्तक्षेप की तरह कुछ ऐसा घटित होता है कि हमारी संवेदना स्वेच्छाचारों के प्रति सहम उठती है। नियति की इस रंग-भूमिका को ध्यान में धारण किए बिना प्रसाद के नाटकों में व्यक्त संयोगों और अकस्मात् घटने वाले रंग-व्यापारों का मर्म समझ में नहीं आ सकता। स्कंदगुप्त में स्कंदगुप्त को झकझोरती हुई नियति उसे कर्मयोगी बनाए रखती है; कुत्सित कर्मों में लगे

हुए भटार्क, अनन्तदेवी और विजया को क्षमा माँगने और हृदय में परिवर्तन लाने के लिए बाध्य करती है। प्रथम अंक के चौथे दृश्य में प्रपंचबुद्धि के अभिचार पर विश्वास करके जिस अनन्तदेवी ने यह कहा था - 'सूचीभेद्य अंधकार में छिपने वाली रहस्यमयी नियति का - प्रज्वलित कठोर नियति का - नील आवरण उठाकर झाँकने वाला (प्रपंचबुद्धि)।' उसमें कितनी नाटकीय विडम्बना है, इसे चौथे-पाँचवे अंक में घटित घटनाओं को देखकर समझा जा सकता है। नियति उनके अहंकार पर व्यंग्य करती हुई उन्हें किस दयनीय स्थिति को प्राप्त करती है, यह सहज ही द्रष्टव्य है। नियति उनके अभिचार और कुघातों का फल चखाती है। उसके इस हस्तक्षेप का मर्म जान लेने पर दर्शक कुनीतियों और कुचालों से अनायास ही सहम उठता है। उसे यह बोध होता है कि नियति समष्टि की प्रसन्नता की बड़ी सजग प्रहरी है; उसकी भृकुटी-विलास से स्वार्थान्ध व्यक्ति बच नहीं सकता। नियति के हस्तक्षेप का ही परिणाम है कि आलोच्य नाटक का अंत नितांत भिन्न रूप में हुआ है और इसे प्रसादांत कह सकते हैं। अन्यथा चौथे अंक के सातवें दृश्य में नायक (स्कंदगुप्त) को जिस निराशा, एकाकीपन और दुःखमय स्थिति में हम पाते हैं, वह नाटक को दुःखांत ही बना देती। ऐसी स्थिति में स्कंदगुप्त के पक्ष में संयोगों के जो चमत्कार सहसा घटित होने लगते हैं, वह नियति की ही लीला हो सकती है। राज्य के भीतरी शत्रुओं का हृदय-परिवर्तन होता है, बाहरी आक्रमणकारी पराजित होते हैं, साम्राज्य की रक्षा की दृष्टि से स्कंदगुप्त विजयी होता है। आर्यावर्त को हर तरह से निष्कण्टक करना ही नाटक के नायक का अभीष्ट फल है, गुप्त-साम्राज्य का शासक होना नहीं। इस दृष्टि से स्कंदगुप्त फल का भोक्ता भी बनता है। नायक के लिए फल का भोक्ता होना भी जरूरी है। लेकिन स्कंदगुप्त आर्यावर्त को सभी प्रकार के बाहरी-भीतरी शत्रुओं से निष्कण्टक बनाकर उदात्त-भाव से पुरगुप्त को सौंप देता है। व्यक्तिगत रूप से तो वह अंत में 'हतभाग्यशाली और अकेला स्कंदगुप्त' ही रह जाता है। इसमें रोमाण्टिक-धर्मी अवसाद की संवेदना जाग्रत होती है। नाटक की मूल संवेदना भी यही है।

समष्टिगत स्तर पर तो स्कंदगुप्त राष्ट्रोद्धार की संवेदना जाग्रत करता है, किंतु व्यक्तिगत स्तर पर वह अंतर्द्वंद्वों से पीड़ित, निराशा से ग्रस्त हो जाने वाला सहज मनुष्य लगता है। भरत-वाक्य की तरह व्यक्त देवसेना के इस कथन में यह संकेतित है - 'कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्य अग्नि है। सम्राट! यदि इतना भी न कर सके तो क्या! सब क्षणिक सुखों का अंत है। जिसमें सुखों का अंत न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए। मेरे इस जीवन के देवता और उस जीवन के प्राप्य! क्षमा।' (अंक 5, दृश्य 6)

प्रसाद के नाटकों में चारित्रिक वैविध्य, मनोवैज्ञानिकता, मानवीय क्रियाकलापों के अभीष्ट मंतव्य को लक्ष्य करके ही आलोचकों ने उनके नाटकों को चरित्र-प्रधान नाटक माना है। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी लिखते हैं - '.....प्रसाद जी कवि थे, इसलिए वस्तु-विन्यास उनकी विशेषता नहीं है। चरित्रों की सजीवता और बहुरूपता उनका सर्वप्रथम गुण है। व्यक्ति के चित्रों के अंकन में उन्हें अधिक सफलता मिली है। चरित्र-निर्माण संबंधी उनकी दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने सभी पात्रों में अलग व्यक्ति-योजना का ध्यान रखा है।.....प्रसाद जी के नाटकों में चरित्र-चित्रण प्रधान होने के कारण, उसके अंगभूत मनोवैज्ञानिक पक्ष का सुंदर निरूपण हुआ है।' डॉ. नगेन्द्र भी प्रसाद की नाट्य-सृष्टि के इस महत्व को रेखांकित करते हैं - '.....स्पष्टतः ये नाटक चरित्र के द्वंद्व को लेकर चले हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता चरित्र-निर्माण में है।' (आधुनिक हिंदी नाटक)

नाट्य-सृजन में चरित्र-चित्रण की प्रधानता को सूचित करने वाला तत्व अंतर्द्वंद्व है। अंतर्द्वंद्व मानवीय चरित्र को सजीव बनाता है। इस तत्व की समुपस्थिति से ही पात्र सहज और जीवित मनुष्य लगते हैं। तथापि, प्रसाद का अंतर्द्वंद्व-विधान द्विजेन्द्र लाल राय (बंगला साहित्य के ऐतिहासिक नाटकों के नाटककार) से तत्त्वतः भिन्न है। द्विजेन्द्र लाल राय ने पात्रों के अंतर्द्वंद्व को अति-नाटकीय भावातिरेक के साथ व्यक्त किया है, जो अतिरिक्त संवेगात्मक संलापों और अकारण उच्छ्वासों के रूप में फूट पड़ा है। राय की चरित्र-सृष्टि (शाहजहाँ, नूरजहाँ, चाणक्य आदि) में तीव्र अंतर्द्वंद्व का उन्मादकारी उद्देलन परिलक्षित है। प्रसाद का अंतर्द्वंद्व-विधान अंतर्द्वंद्व का चमत्कार-मात्र प्रदर्शित करने के लिए नहीं है, अपितु मनुष्य जीवन की विषमता में समता, अथवा मानवीय भावनाओं, विचारों एवं क्रियाओं के बेसुरे रागों को उभारते हुए जीवन की विर आनंदमयी लय की व्यंजना के हेतु नियोजित है। स्कंदगुप्त में विजया के अंतर्मन की अलयात्मक वासना की भाग-दौड़ को लक्ष्य करके जब देवसेना यह कहती है कि '.....विजया! प्रत्येक परमाणु के हिलने में एक लय है, मनुष्य ने अपना स्वर विकृत कर रखा है; इसी से तो उसका स्वर विश्व-वीणा में शीघ्र नहीं मिलता। पाण्डित्य के मारे जब देखो, जहाँ देखो, बेताल-बेसुरा बोलेगा' - तब वह अंतर्द्वंद्व के भीतर से ही जीवन की आनंदमयी लय की प्राप्ति की सार्थकता का ही महत्व प्रकट करती है। इससे यह स्पष्ट है कि व्यक्तियों के अंतर्द्वंद्व का निरूपण करते हुए प्रसाद

नागरिक जीवन में कहीं भी उच्छृंखलता, अहमन्यता, असहिष्णुता, अंध-रुद्धि के ढंग से शास्त्रीय लीक पीटने वाले अनुभव-विहीन पाण्डित्य के चमत्कार को महत्व नहीं देते। उनका मानवीय सोच सामाजिक है; नितांत व्यक्ति-वैचित्र्यपरक नहीं है। उनके अंतर्द्वंद्व विधान के भीतर प्रज्ञा या अनुभव-सापेक्ष समझदारी से देश-काल और परिस्थिति के स्वरो को पहचानने की प्रक्रिया अक्षुण्ण रहती है। अपने नाटकों में प्रसाद राष्ट्र-प्रेम, स्त्री-पुरुष के सहज प्रेम-प्रवाह, तथा नागरिक रिश्तों के टूटने और बनने की स्थितियाँ सामने लाते हैं। वे समरसतावादी विचारक थे और इसी परिप्रेक्ष्य में अंतर्द्वंद्व-चित्रण को एक अर्थवान रूप में ढालते हैं। इस प्रकार, प्रसाद के पात्रों में अंतर्द्वंद्व की अभिव्यक्ति इस पद्धति के अनुरूप है, उसमें द्विजेन्द्र लाल राय की तरह संशय की आतुरता ही नहीं, रस व्यंजकता भी है। इसीलिए यह कहा जाता है कि प्रसाद के नाटकों में रस और अंतर्द्वंद्व का समन्वय हुआ है।

पात्रों का शील-निरूपण आशावादी भूमि का है। द्विजेन्द्र लाल राय की तरह त्रासदी-बोध सुलभ निराशा एवं संशय की दृष्टि नहीं अपनाई गई है। द्विजेन्द्र लाल राय के शाहजहाँ, चन्द्रगुप्त, दुर्गादास, नूरजहाँ आदि नाटकों में नायक के प्रयत्नों की असफलता और असिद्धि ही प्रकट होती है। किंतु प्रसाद के नाटकों - चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, विशाख, ध्रुवस्वामिनी आदि में नायक के प्रयत्न सफलता प्राप्त करते हैं। अतः उनमें रस-निष्पत्ति सुलभ है। चरित्र-चित्रण को मनोवैज्ञानिक रूप देने के लिए प्रसाद ने पात्रों के अंतर्द्वंद्व को विरोधी स्थितियों के बीच निर्मित किया, किंतु उसे नितांत निराशा और संशय-ग्रस्त भी नहीं होने दिया है। नैराश्य व्यंजक अंतर्विरोधों, संशय-ग्रस्त संघर्षों के बावजूद प्रसाद के नाटकों में नायक कार्य की सिद्धि तक अम्लान अंतश्चेतना के साथ संलग्न रहता है। मलिनता अथवा निराशा से पराभूत या हतचेत नहीं होता है। दृढ़ता से कार्य-सिद्धि में जुटा है। स्कन्दगुप्त में आशावादी दृष्टि से चरित्र-चित्रण का एक कलात्मक प्रभावशाली रूप दिखाई देता है।

चरित्र-चित्रण में स्वच्छंद चेतना का संयोजन परिलक्षित है। जैसा कि पाश्चात्य आलोचक ई.एम.फार्स्टर का मत है - 'यदि किसी लेखक की चेतना रोमाण्टिक-धर्मी है तो वह मानवीय संबंधों को सुंदर रूप में ही देखेगा। उसके अंदर दिखलाई पड़ने वाले पारस्परिक घृणा-द्वेष भी कुत्सित नहीं होते।' यही कारण है कि प्रसाद के नाटकों में दुष्ट-मति पात्रों की मोहान्ध दुर्बलता के भीतर लुप्त-सुप्त सद्वृत्तियाँ अवसर पाकर उभर आती हैं। उनके चरित्र में भी एक प्रकार की सौम्यता और उच्चता का विकास सुलभ होता है। अजातशत्रु में समुद्रदत्त, चन्द्रगुप्त में आम्भीर, स्कन्दगुप्त में पुरगुप्त, भटार्क, विजया और अनन्तदेवी के चरित्र इसी शैली में रूपायित हैं। उनके चरित्र का प्रभाव हमारे ऊपर इस रूप में नहीं पड़ता कि वे सर्वथा खल-पात्र हैं, अपितु इस रूप में पड़ता है कि वे नायक के प्रतिपक्ष में खड़े मोहान्ध पात्र हैं; नायक की करुणा और सहानुभूति पाकर उनके चरित्र में उच्चता और सौम्यता का विकास होता है।

5.6 'स्कन्दगुप्त' में रस-विधान और जीवन मूल्य

चरित्र-चित्रण में प्रसाद ने रस-विधान को महत्व तो दिया है, किंतु उस रूप में नहीं जिस रूप में भारतीय नाटक में अपेक्षित होता है। रस की अव्यावहारिक और एकतान अभिव्यक्ति की अपेक्षा चरित्र-चित्रण की मनोवैज्ञानिकता एवं परिस्थितियों की जटिलता नाटककार के ध्यान को अधिक आकृष्ट करती हैं। केवल रस की विशेषता रखने वाले नाटकों में स्थिति और कार्य का साधारणीकृत रूप ही प्रकट हो पाता है।

प्रसाद के नाटकों को रस-प्रधान इसलिए भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे आदि से अंत तक किसी एक स्थायी भाव के केंद्र से ही विभावन व्यापार का संयोजन नहीं करते हैं। केवल रस को प्रधानता देने वाले नाटककार चरित्रों के व्यक्तिगत मनोविज्ञान तथा विशेष-विशेष सामाजिक परिस्थितियों के अंतर्भाव का ध्यान नहीं रखते हैं। प्रसाद चरित्रों और परिस्थितियों की व्यक्तिगत विलक्षणता को भी सामने लाते चलते हैं। वे पात्र के सामाजिक स्वरूप के साथ उसके वैयक्तिक द्वंद्व को भी प्रदर्शित करते हैं। उसके चरित्र का द्विधा-विभक्त संशय-ग्रस्त रूप भी दर्शक के सामने आता है। रसवादी नाटकों के साधारणीकृत चरित्र-चित्रण में इस प्रकार की व्यक्तिगत विलक्षणता देखने को नहीं मिलती।

प्रसाद के नाटकों में चरित्र-चित्रण का आधार विरोध है, किंतु स्थूल विरोध नहीं, चरित्र की व्यक्तिगत विशिष्टता से उत्पन्न सूक्ष्म विरोध है। एक पात्र का दूसरे पात्र से विरोध का आधार अधिकतर चारित्रिक विषमता ही है। पुरगुप्त और स्कन्दगुप्त का विरोध, विजया का अनायास ही स्कन्दगुप्त का विरोधी हो

जाना वस्तुतः चारित्रिक विषमता के कारण ही है, उसका कोई तार्किक आधार नहीं है। स्कंद विजया और देवसेना के बीच भी सजीव विरोध व्यंजित है; परंतु परिस्थितियों को इस प्रकार रूपा किया गया है जिससे उन दोनों का विरोध नाटक में आद्यन्त आकर्षण का केंद्र बना रहता है।

प्रसाद के नाटकों में जीवन-मूल्य

प्रसाद के नाटकों में राष्ट्र-प्रेम और राष्ट्रीय जागरण की भावना तो अभिव्यक्त हुई ही है; उनमें भारतीय जीवन के सांस्कृतिक मूल्यों अथवा जीवनादर्शों का स्वरूप भी व्यापक रूप से प्रकट हुआ है। जातीय जीवन के सभी पक्षों और रिश्तों को लक्ष्य कर भारतीय जीवन मूल्यों या आदर्शों को प्रकाशित करने के अवसरों को प्रसाद की नाट्य-चेतना बराबर ढूँढती रहती है। वे नाट्य-वस्तु को ऐसा घुमाव देते हैं जिससे व्यक्तिगत जीवन, घर-परिवार के रिश्तों से राष्ट्रीय-जीवन के व्यापक सामाजिक रिश्ते तथा उनकी विषमताएँ और अपेक्षाएँ प्रकट होती हैं। चरित्र-चित्रण के भीतर से इन रिश्तों के सूत्रों को विकसित कर वे दर्शक को जीवन के अभीष्ट या काम्य मूल्यों के प्रति संवेदनशील बनाने का निरंतर प्रयत्न करते हैं। इसीलिए आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि '.....प्रसाद के नाटकों से भारतवर्ष की अंतश्चेतना के दर्शन का सिंहद्वार अनावृत्त हो गया है।'

5.7 सारांश

आपने स्कंदगुप्त से संबंधित इकाई 5 का अध्ययन कर लिया है। आपने यह समझ लिया होगा कि इस नाटक में इतिहास की अभिव्यक्ति किस रूप में हुई है। स्कंदगुप्त नाटक गुप्त साम्राज्य के प्रसिद्ध सम्राट स्कंदगुप्त से संबंधित है जिन्होंने पाँचवीं सदी में उज्जैन पर शासन किया था और भारत के उत्तर तथा पश्चिम के क्षेत्रों से विदेशी आक्रमणकारियों, शकों और हुणों के राज्यों को समाप्त किया था। वह समय एक ओर विदेशी हमलावरों से त्रस्त था, तो दूसरी ओर भारत के विभिन्न प्रांत आंतरिक कलह से ग्रस्त थे। इसी स्थिति का लाभ उठाकर शकों और हुणों ने भारत के काफी बड़े क्षेत्रों पर अपना राज्य स्थापित करने में सफलता अर्जित कर ली थी।

स्कंदगुप्त ने विदेशी आतताइयों से मुक्ति इसीलिए प्राप्त की क्योंकि उसके मन में राज्य-प्राप्ति की लालसा नहीं थी, वरन् राष्ट्र की सेवा करने और उसे दासता से मुक्त कराने की थी। इसके लिए उसने विभिन्न समुदायों और प्रांतों को एकजुट किया। प्रसाद के इस नाटक में इतिहास का यह चित्रण वर्तमान समय की चुनौतियों से प्रेरित था। देश में राष्ट्रीय चेतना के विस्तार के लिए जरूरी था कि लोग धर्म, क्षेत्र, भाषा और जातिगत भेदभावों से ऊपर उठें। बौद्ध और ब्राह्मण धर्म के कलह का लाभ जिस प्रकार हुणों ने उठाया, वैसा ही लाभ हिंदू-मुस्लिम कलह का अंग्रेज़ उठा रहे थे। राष्ट्रीय चेतना के इसी संदर्भ का विश्लेषण इस इकाई में किया गया है।

इतिहास की रचना के लिए प्रसाद ने कल्पना का सहयोग लिया। विभिन्न पात्रों की सृष्टि में और घटनाओं के निर्माण में इस कल्पनाशीलता के बल पर वे ऐसा प्रभावशाली नाटक लिख सके जिसका कथा-संयोजन ही नहीं वरन् चरित्र-चित्रण भी अत्यंत विशिष्ट ढंग का है।

प्रसाद नाटकों में रस को काफी महत्व देते हैं। लेकिन उनके नाटक, संस्कृत नाटकों की तरह रस-प्रधान नहीं हैं। उनमें किसी एक स्थायी भाव की प्रधानता नहीं है। रस को महत्व देने का तात्पर्य सिर्फ इतना ही है कि वे नाटक को न तो सुखांत और न ही दुखांत रूप में रचते हैं। स्कंदगुप्त में भी यही विशेषता देखते हैं। विदेशी आतताइयों से राष्ट्र को मुक्त कराने में जो सफलता स्कंदगुप्त को हासिल होती है, उसके बावजूद उसके जीवन में अवसाद अंत तक बना रहता है। एक तरह की नियति पहले से निश्चित प्रतीत होती है। नियति का यह प्रभाव प्रसाद के नाटकों में किस रूप में है, 'स्कंदगुप्त' के संदर्भ में इस पर भी इस इकाई में विचार किया गया है।

अभ्यास

1. स्कंदगुप्त के आधार पर प्रसाद की इतिहास दृष्टि की विवेचना कीजिए।

2. **स्कंदगुप्त की ऐतिहासिक कथावस्तु का राष्ट्रीय संदर्भ क्या है? इस पहलू पर विचार करते हुए प्रसाद की राष्ट्रीय चेतना का उल्लेख कीजिए।**
3. **स्कंदगुप्त चरित्र प्रधान नाटक है। इस कथन के संदर्भ में स्कंदगुप्त की चरित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।**

इकाई 6 'स्कंदगुप्त' की रंगमंचीय संभावनाएँ

इकाई की रूपरेखा

- 6.0 उद्देश्य
- 6.1 प्रस्तावना
- 6.2 जयशंकर प्रसाद और रंगमंच
- 6.3 स्कंदगुप्त में दृश्य योजना और रंगमंचीयता
- 6.4 स्कंदगुप्त में भाषा, संवाद और अभिनय
- 6.5 स्कंदगुप्त में गीत सृष्टि
- 6.6 सारांश

6.0 उद्देश्य

स्कंदगुप्त से संबंधित यह तीसरी और अंतिम इकाई है। इस इकाई में नाटक की रंगमंचीय संभावनाओं और गीतों पर विचार किया गया है। हमने इकाई 4 में प्रसाद की नाट्य दृष्टि पर विस्तार से विचार किया था। प्रसाद के नाटकों को लेकर सबसे बड़ा विवाद यही है कि उसे मंच पर खेला जा सकता है या नहीं। आमतौर पर प्रसाद के नाटकों को रंगमंच की दृष्टि से बहुत उपयुक्त नहीं समझा जाता। स्कंदगुप्त पर विचार करने से पहले यह जानना बहुत ज़रूरी है कि प्रसाद की रंगमंच संबंधी संकल्पना क्या थी। इस इकाई में इस पक्ष पर विचार किया गया है।

रंगमंच संबंधी संकल्पना को समझकर ही हम यह जान सकते हैं कि स्कंदगुप्त को रंगमंच पर किस हद तक सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया जा सकता है। इसके लिए नाटक की दृश्य योजना, क्रिया व्यापार, पात्र योजना आदि पहलुओं पर विचार करना ज़रूरी है। इकाई में इन सभी पक्षों का गहन विवेचन किया गया है।

रंगमंच पर प्रस्तुति के लिए ज़रूरी है कि नाटक की भाषा, विशेषकर संवादों की भाषा पर विचार किया जाए। प्रसाद के संवाद क्या मंच पर प्रस्तुति के लिए उपयुक्त हैं? वे पात्रों, उनकी मनोदशाओं और नाटक के क्रिया व्यापार को गति देने के लिए किस सीमा तक प्रभावशाली माने जा सकते हैं? प्रसाद छायावादी कवि थे, क्या उनके संवादों पर काव्यगत विशेषताओं का प्रभाव है? क्या नाटकीयता और अभिनेयता की दृष्टि से वे सफल कहे जा सकते हैं? इन सभी पहलुओं पर इकाई में विचार किया गया है।

नाटक की सबसे बड़ी पहचान उसकी अभिनेयता है। रंगमंच पर प्रस्तुति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम इस बात का विश्लेषण करें कि उसका अभिनय किस हद तक सफल होगा?

स्कंदगुप्त नाटक के प्रत्येक अंक में गीतों को शामिल किया गया है। प्रसाद के ये गीत किस तरह के हैं? उनसे नाटक का प्रभाव विस्तारित हुआ है या बाधित हुआ है? गीतों में निहित काव्य सौंदर्य पर भी इकाई में विचार किया गया है।

6.1 प्रस्तावना

यह नाटक तथा अन्य गद्य विचार नामक पाठ्यक्रम के पहले खंड की अंतिम इकाई है। प्रस्तुत इकाई में इस प्रश्न पर विचार किया जाएगा कि प्रसाद ने रंगमंच को ध्यान में रखकर नाटकों की रचना की है या नहीं? यदि हां तो किस रंगमंच की दृष्टि से? और उस रंगमंच की रूढ़ियों ने उनके नाटकों को किस सीमा तक प्रभावित किया है? उनके नाटकों के रंगमंचीय प्रदर्शन में किस तरह की कठिनाइयाँ सामने आती हैं तथा रंगमंचीय प्रदर्शन की उनमें कितनी संभावनाएँ हैं?

स्कंदगुप्त से संबंधित इस इकाई में रंगमंच और गीत-सृष्टि पर विचार किया गया है। प्रसाद का रंगमंच और नाटक के अंतःसंबंधों पर हम चौथी इकाई में विचार कर चुके हैं। प्रसाद का मानना था कि रंगमंच के अनुरूप नाटक नहीं लिखे जाने चाहिए वरन् नाटकों के अनुरूप रंगमंच को स्वरूप दिया जाना चाहिए। प्रसाद के समय पारसी रंगमंच ही 'उपलब्ध' था और अपने संस्कृत साहित्य के अध्ययन के बल पर वे यह जानते थे कि भारतीय परंपरा में रंगमंच और नाटक का स्वरूप क्या था? प्रसाद ने लोक नाट्य परंपरा से रंगमंच की संकल्पना ग्रहण नहीं की। इस प्रकार उन्होंने पारसी थियेटर के विरोध में भारतीय रंगमंच को ही पुनर्स्थापित करने के लिए नाटकों को ऐसा रूप दिया। लेकिन क्या वे संस्कृत नाट्य परंपरा का अनुपालन कर सके? क्या वे पारसी नाटकों के प्रभाव से अपने को मुक्त रख सके? रंगमंच पर खेलने की दृष्टि से स्कंदगुप्त किस सीमा तक सफल है, इन सभी प्रश्नों पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

प्रसाद के इस नाटक में गीतों का भी समावेश किया गया है। इन गीतों को अलग-अलग अवसरों और स्थितियों में शामिल किया गया है। नाटक और गीत के बीच वे किस तरह का तारतम्य स्थापित कर सके हैं, यह भी इस इकाई में विचार किया गया है।

6.2 जयशंकर प्रसाद और रंगमंच

यह तो नहीं कहा जा सकता कि प्रसाद यह नहीं जानते थे कि नाट्यकला प्रदर्शनपरक होती है, नाटक का सृजन इस रीति से किया जाता है कि उसमें चित्रित जीवन-दशाओं या कार्यों को अभिनय के द्वारा प्रस्तुत किया जा सके। वे नाट्य-सृजन की इस प्रतिबद्धता को भली प्रकार जानते थे। किंतु वे यह नहीं मानते थे कि किसी भी नाटक को चाहे जिस किसी भी रंगमंच पर प्रस्तुत किया जा सकता है। हर एक रंगमंच का अपना अलग स्थापत्य होता है, उसका एक निजी दर्शकीय संदर्भ और सांस्कृतिक बोध होता है। इसे ध्यान में रखकर ही किसी नाटक की रंगमंचीयता या अभिनेयता पर विचार करना संगत होता है।

प्रसाद के समय में हिंदी-क्षेत्र में जो रंगमंच सुलभ थे, उनके दर्शकीय संदर्भ अथवा सांस्कृतिकता, अथवा प्रदर्शनमूलक रंगरूढ़ियों से प्रसाद संतुष्ट नहीं थे। वे रंगमंच संबंधी सोच की अपनी एक ऐसी काल्पनिक धारणा बनाकर नाट्य-रचना में प्रवृत्त हुए जिसका प्रयोग हिंदी में अभी नहीं हुआ था। अतः रंगमंच की व्यावहारिक कठिनाइयों को नज़रंदाज करते हुए ही प्रसाद नाट्य-लेखन में प्रवृत्त हुए।

प्रसाद के समय में हिंदी क्षेत्र में दो ही रंगमंच विशेष रूप से प्रचलित थे। एक व्यावसायिक पारसी रंगमंच था, तो दूसरा सीमित साधनों वाला भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित शौकिया रंगमंच या अव्यावसायिक रंगमंच। पारसी रंगमंच के दर्शकीय संदर्भ, सांस्कृतिक अभद्रता, कृत्रिम प्रदर्शन-प्रणाली से तो प्रसाद को बहुत ही चिढ़ थी। सीमित साधनों से ही रंगकर्म करने वाले रंगकर्मियों को भी वे अपनी कल्पना के रंग-दर्शन और विस्तृत एवं समुन्नत सांस्कृतिक चेतना को रूपाकार देने में सक्षम नहीं समझते थे। अपने इस विचार को प्रसाद ने कहीं नाटक की भूमिका में तो कहीं रंगमंच पर स्वतंत्र लेख लिखकर प्रकट किया है। विशाल नाटक की भूमिका में एक स्थल पर वे लिखते हैं : "....आजकल के पारसी रंगमंच के अनुकूल ये नाटक कहाँ-तक उपयुक्त होंगे इसे मैं नहीं कह सकता, क्योंकि उनका आदर्श केवल मनोरंजन है। हाँ, जातीय आदर्शों से स्थापित यदि कोई रंगमंच, जहाँ कि चमक-दमक से विशेष ध्यान पात्रों के अभिनय पर रखा जाता हो तो कोई सम्मति अपने अभिनय के अड़चन पड़ने की दे तो मैं उसे स्वीकार करने के लिए सर्वथा प्रस्तुत हूँ।" रंगमंच पर लिखे गए अपने निबंध में वे एक स्थान पर लिखते हैं : "....हिंदी के कुछ अकाल पक्व, आलोचक जिनका पारसी रंगमंच से पिण्ड नहीं छूटा है, सोचते हैं स्टेज में यथार्थवाद! ... हिंदी का अपना कोई रंगमंच नहीं है, ऐसा समझने का कोई साहस नहीं करता, क्योंकि दोष-दर्शन सहज है। उसके लिए वैसा प्रयत्न करना कठिन है, जैसा कीन ने किया था।" ... पुनः वे लिखते हैं - 'मेरी रचनाएँ तुलसीदास शैली या आगा हसन की व्यावसायिक रचनाओं के साथ नहीं नापी तोली जानी चाहिए। मैंने उन कंपनियों के लिए नाटक नहीं लिखे हैं जो चार चलते अभिनेताओं को एकत्रकर, कुछ पैसे जुटाकर, चार पर्दे मँगनी माँग लेती हैं और दुअन्नी-अठन्नी के टिकट पर इक्केवाले, खोमचेवाले और दुकानदारों को बटोरकर जगह-जगह प्रहसन करती फिरती हैं। ... यदि परिष्कृत बुद्धिवाले अभिनेता, सुरुचि-सम्पन्न सामाजिक हों और पर्याप्त द्रव्य काम में लाया जाय तो ये नाटक अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं।' इन कथनों से इतना तो स्पष्ट होता ही है कि नाट्य-

सृजन करते समय प्रसाद जी रंग-दर्शन के प्रति सचेष्ट थे। किंतु वे जिस रंगमंच को कल्पना में रखकर नाटक-रचना में प्रवृत्त हुए थे, उसका कोई व्यावहारिक रूप उनके सामने नहीं था। अतः कल्पना के एक समुन्नत सांस्कृतिक रंग-दर्शन और सुरुचि-सम्पन्न दर्शकीय संदर्भ के निर्गुण आधार (रंग-व्यवहार में प्रत्यक्ष न होने वाले केवल काल्पनिक आधार) के अनुरूप ही वैविध्यपूर्ण पेचीदे दृश्यों को उन्होंने अवतरित किया। उन्हें किस प्रकार के दृश्यबंध में साकार करना सुलभ होगा, इसकी ओर कदाचित् उनका ध्यान ही नहीं गया। उनके अपने समय-से लेकर आज तक के रंगकर्मी उनकी चुनौती को लक्ष्यकर भिन्न-भिन्न रंग-पद्धतियों में उनके नाटकों को प्रस्तुत करने का प्रयास करते रहे हैं। परंतु किसी भी रंग-पद्धति चाहे वह यथार्थवादी रंगमंच की आकारवादी या प्रतीकात्मक रंग-पद्धति हो, अथवा भारतीय नाट्यधर्मी नृत्य या नृत्तमूलक अभिनय की मुद्राओं में उनके दृश्य-विधान को साकार करने का प्रयत्न किया गया हो, उनके नाटकों का कुछ-न-कुछ अनभिव्यक्त रह ही जाता है। नाटक के दृश्यों के स्वरूप में बहुत विषमता है। कुछ दृश्य तो नाटकीय होते हैं और कुछ दृश्य इतने उबाने वाले होते हैं कि उनकी प्रस्तुति रंगमंच पर असंभव ही प्रतीत होती है। नाटक इतने लम्बे हैं और दृश्यों की संख्या इतनी अधिक है कि उन्हें रंगमंच पर प्रस्तुत करने के लिए 12-15 घंटे का समय चाहिए। इतने समय तक बैठकर नाटक देखना दर्शक के लिए (चाहे वह कितना ही सुरुचि-सम्पन्न और धैर्यशाली क्यों न हो) अव्यावहारिक है।

6.3 'स्कंदगुप्त' में दृश्य योजना और रंगमंचीयता

स्कंदगुप्त की कथावस्तु 33 दृश्यों में प्रस्तुत की गई है। 33 बार दृश्य-परिवर्तन करते हुए नाटक को दिखलाने में कितना समय लगेगा इसका सहज ही अनुभव लगाया जा सकता है। इतने दृश्यों के नाटक को रंगमंच पर दिखलाने की योजना और दर्शक का आदि से अंत तक बैठे हुए उसे देखना व्यावहारिक ज्ञात नहीं होता। इसके अलावा कुछ ही दृश्यों के कुछ रंग-व्यापार सघन और सरल हैं, अधिकतर दृश्यों के रंग-व्यापार शिथिल और उबाने वाले प्रतीत हो सकते हैं। उनका रूप कितना भी काव्यात्मक क्यों न हो, रंगशाला में बैठकर देखते-सुनते हुए संवेदना में सहभागी होना दुष्कर लग सकता है।

एक दृश्य दूसरे दृश्य से बहुत भिन्न है। एक की दृश्य-सज्जा को समेटकर दूसरे की दृश्य-सज्जा की योजना करने में बहुत समय लगता है। बहुत देर तक का अंतराल या मौन रंग-कार्य को अरोचक बना देता है। गत्यात्मक प्रवाह में ही नाट्य-प्रदर्शन का मूलभूत सौंदर्य होता है। वस्तुवादी दृश्य-योजना को अव्यवहारिक पाकर कुछ रंगकर्मीयों ने प्रतीकात्मक रंग-विधान में स्कंदगुप्त को मंचित करने का प्रयास किया है। प्रतीकात्मक रंग-विधान में एक ही दृश्यबंध पर सामान्य परिवर्तनों से अनेक दृश्यों की योजना की जा सकती है। इसमें हर नये दृश्य के साथ पर्दा उठाने-गिराने की अपेक्षा नहीं होती। किंतु प्रयोगकर्त्ताओं का अनुभव प्रमाण है कि प्रतीकात्मक रंग-विधान द्वारा भी स्कंदगुप्त के कठिन और उलझे हुए कथानक का निर्वाह असाध्य-सा हो जाता है। इस शैली के रंग-विधान में वेशभूषा की प्राचीनता की व्यंजना सुलभ नहीं हो पाती। कुभा के बाँध का टूटना, अकस्मात् जल का बढ़ना और उसमें स्कंदगुप्त सहित सेना के बहते जाने के दृश्य को किसी भी रंग-पद्धति से दिखलाना अत्यंत कठिन है। गगनिका (साइकोरामा) और प्रकाश-व्यवस्था का सहारा लेकर प्रतीकात्मक ढंग से दृश्यों को दिखला भी दिया जाये, तो दृश्य के प्रतीकात्मक संकेत स्थान परिवर्तन बोध का इच्छित प्रयोजन सिद्ध नहीं कर पाते हैं।

'स्कंदगुप्त' में बहुतायत से ऐसे दृश्यों को संयोजित किया गया है, जो अतिशय रोमांचक हैं। वे चमत्कार और कौतुक को बढ़ाने के कारण ही आकर्षक लगते हैं। नाटक की दृश्यावलियों में स्कंधावार, राज मंदिर, मदिरा-पान और नृत्य, अर्द्ध रात्रि, अंधकार, श्मशान, पर्णकुटीर, वन-उपवन, कुँज, दुर्ग, रणक्षेत्र, राजपथ, राजप्रासाद, नदी-तट, सेतु, युद्ध, स्तूप, समाधि (महादेवी देवकी की समाधि ही अंक-5, दृश्य-2 की क्रियाशीलता का प्रधान केंद्र बिंदु है), रत्नगृह, स्वागत-समारोह, महाबोधि-विहार, उद्यान, अभियान आदि विभिन्न रूप-रंग वाले दृश्यों की पृष्ठभूमि में रचा गया यह नाटक रंगमंचीय प्रस्तुति के समय दृश्य-बंध और दृश्य-सज्जा को काफी-हद तक अव्यवहारिक बना देता है। गुलाबराय लिखते हैं कि उनमें युद्ध अभियान आदि ऐसे दृश्य हैं जो रंगमंच पर काफी गड़बड़ करेंगे।' स्पष्ट है कि ऐसे दृश्यों को रंगमंच की यथार्थवादी या वस्तुवादी शैली में यथातथ्य रूप से प्रत्यक्ष दिखलाना कठिन ही नहीं असंभव है। दृश्यों के स्वरूप और वैविध्य को देखने से ऐसा विदित होता है कि नाटक की दृश्य-योजना पारसी रंगमंच की तरह चित्रांकित परदों का उपयोग कर दृश्यों को दिखलाने के लिए है। यद्यपि पारसी

रंगमंच की कृत्रिम अभिनय प्रणाली, छिछली रसिकता, फुहड़ गानों, अश्लीलता व्यंजक क्रियाशीलता और भाषा-संवाद से प्रसाद का विरोध जाहिर है, तथापि चित्रांकित परदों की सीन-सीनरियों की रंग-पद्धति से प्रभावित लगते हैं। उनकी दृश्य-योजना ऐसी है, जिसे वस्तुवादी रूप से तो रंगमंच पर दिखलाया नहीं जा सकता, लेकिन चित्रांकित परदों का प्रयोग कर सांकेतिक ढंग से दिखलाया जा सकता है।

प्रसाद के नाटकों (स्कंदगुप्त, चंद्रगुप्त आदि) की दृश्य-योजना की रंगमंचीय प्रस्तुति के लिए भारतीय प्राचीन काव्यात्मक रंगशाला या रंगभूमि, भित्ति-चित्रों एवं नाट्यधर्मी सांकेतिक दृश्य-योजना को लक्ष्यकर, उन्हें अपनाने का प्रस्ताव भी रखा जा सकता है, किंतु ऐसी रंगशालाएं अब सुलभ नहीं हैं। स्कंदगुप्त की दृश्य-योजना में रोमांचकता, कौतुकता तथा नाट्य-वर्जनाओं की उपेक्षा कर हत्या, युद्ध, अभियान श्मशान की चिराँयध के दृश्य लाए गए हैं, वे भारतीय रंगभूमि की सीमा का अतिक्रमण ही करते हैं। अतः भारतीय ढर्रे का रंग-विधान उन्हें दिखलाने में सक्षम नहीं हो सकता है।

प्रसाद के स्कंदगुप्त की दृश्य-योजना पारसी रंगमंच की दृश्य-योजना से ही अधिक प्रभावित प्रतीत होती है। उसमें डरावनी रात के गहन अंधकार में अभिसार का जो दृश्य है, षड्यंत्र, हत्या, अपहरण, नृशंसता, प्रपंचबुद्धि के अभिचार के जो दृश्य हैं, वे जिस प्रकार चौंकाने वाले हैं, उसी प्रकार के दृश्य पारसी रंगमंच के भी उपजीव्य थे। इससे लगता है कि पारसी रंगमंच की छाप उसकी दृश्य-योजना पर है। इतना होते हुए भी, स्कंदगुप्त को जब कभी पारसी रंगमंच के नाटकों की तरह विभिन्न परदों की सहायता से प्रस्तुत किया गया, अभिनय असफल ही रहा। इस रंगमंच की दृष्टि से भी स्कंदगुप्त का दृश्य-संयोजन सुविधाजनक सिद्ध नहीं हुआ है।

स्कंदगुप्त की दृश्य-सज्जा क्यों रंगमंच पर बिखर जाती है? अथवा दृश्य-संयोजन सुविधाजनक नहीं होता, इसके कई कारण बन जाते हैं। एक प्रमुख कारण दृश्यों के स्वरूप में विषमता है कुछ दृश्य तो सघन और नाटकीय हैं, कुछ बहुत शिथिल, अनाटकीय और उबाने वाले हैं। अतः प्रस्तुतीकरण का प्रभाव एक-सा नहीं बना रहता। स्कंदगुप्त के प्रथम अंक में ही यह देखा जा सकता है कि पहले दो दृश्य तो पर्याप्त सघन और नाटकीय हैं। किंतु तीसरा दृश्य मातृगुप्त की भावुक कल्पना से अतिरंजित प्रणयानुभूति व्यंजक ऐसा दृश्य है, जिसका नायक स्कंदगुप्त के अंतर्बाह्य संघर्ष से कहीं दूर का भी कोई रिश्ता नहीं है। इससे अंकगत दृश्यों का कुल प्रभाव बाधित ही होता है। यह दृश्य न तो सीधे आंतरिक संघर्ष से ही जुड़ता है, न बाहरी संघर्ष से ही इसका कोई सीधा रिश्ता है। यह तत्त्वतः अतिरिक्त दृश्य ही प्रतीत होता है। इससे नाटकीय क्रिया व्यापार की मूलधारा टूटती ही है। यह दृश्य नाटक के सम्मिलित प्रभाव को खंडित कर देता है। इसी तरह की शिथिलता को प्रकट करने वाली दृश्य-योजना चौथे अंक के तीसरे और चौथे दृश्य की भी है। ये दृश्य मूल क्रिया व्यापार से विच्छिन्न से जान पड़ते हैं। ऐसी दृश्य-योजना के कारण नाटक की प्रस्तुति का संश्लिष्ट संवेदनात्मक प्रभाव सुलभ नहीं हो सकता। नाटक की कलात्मक अभिव्यक्ति में विचारशीलता और रंग-योजना के बीच सामंजस्य बनाए रखना जरूरी होता है। अतिरिक्त दृश्यों को भरने से (चाहे उनका काव्यात्मक सौंदर्य कितना भी उत्कृष्ट क्यों न हो) रंग-चमत्कृति और विचारशीलता का सामंजस्य खंडित हो जाता है। अभिनय बिखर जाता है। स्कंदगुप्त की रंग योजना में शिथिलता लाने वाले एवं सामंजस्य को बिगाड़ने वाले अतिरिक्त दृश्यों की बाधा खटकती है। ये नाटक को अनभिनेय बना देते हैं।

स्कंदगुप्त के वस्तु-विधान में कहीं-कहीं बड़े भड़े जोड़ लगे हुए हैं। अनेक स्थानों पर नाटककार को घटनाओं की गति संभालना कठिन हो गया है। घटना के गत्यात्मक विकास के लिए उसे या तो वांछित व्यक्ति को उसी समय जैसे भूमि फाड़कर या ऊपर से टपक पड़ने की तरह उपस्थित कर देना पड़ा है। तृतीय अंक के दृश्य एक में प्रपंचबुद्धि से शिप्रा-तट पर भटार्क की भेंट घटना की गति संभालने के लिए इसी तरह का मिलन है। कुमा के बाँध तोड़ दिए जाने पर स्कंदगुप्त का जलधारा में बहते हुए कमला की पर्णकुटी पर पहुँचना घटना-विकास के लिए चित्रित एक ऐसा ही संयोग है। संयोगों से विकसित की जाने वाले ऐसी घटनावलियाँ आज के शिष्ट तार्किक व्यक्ति को चुभती हैं। इसे हम पारसी रंग-प्रदर्शन की चौंकाने वाली पद्धति के ही अनुरूप पाते हैं। कह सकते हैं कि पारसी रंगमंच से हिंदी नाटकों को मुक्त रखने का संकल्प लेकर चलते हुए प्रसाद उसी का अनुकरण करते प्रतीत होते हैं।

6.4 'स्कंदगुप्त' में भाषा, संवाद और अभिनय

प्रसाद के नाटकों के अभिनय को कठिन बनाने वाले तत्वों में एक प्रमुख तत्व उनके भाषा-प्रयोग को भी माना जाता है। उनके नाटकों की भाषा क्लिष्ट, चित्रात्मक, आलंकारिक, गीतात्मक है और संवाद वाग्मितापूर्ण और दीर्घ है। संवादों का एक बड़ा हिस्सा स्वगत कथन के रूप में हैं, जिसकी भाषिक संरचना स्वानुभूति के अंतर-स्पर्श से अभिसिक्त अलंकृत और चित्रमय है। पात्रों के कथोपकथन **स्कंदगुप्त** में कहीं तो बहुत चुस्त और नाट्योचित हरकत या अभिनयात्मक (गति-संचार) को उकसाने वाले बन पड़े हैं। लेकिन अधिकतर कथोपकथन लम्बे और वर्णनात्मक हैं। उनका रूप काव्यात्मक या औपन्यासिक है। नाटक की संवाद-योजना में तभी नाट्यत्व या अभिनयात्मक सौंदर्य आता है जब संवादों में एक अवस्था या स्थिति से दूसरी अवस्था या स्थिति की ओर बढ़ने की तीव्रता दिखलाई पड़ती है।

स्कंदगुप्त में भाषा का काव्यात्मक प्रयोग नाट्योपयोगी नहीं है। उसमें भाषा और संवाद का प्रयोग न तो अभिनय व्यंजक गति को उकसाने वाला है, न ही स्थिति विकास की नाट्योचित गतिशीलता ही है। नाट्यभाषा के विषय में अभिनवगुप्त का मत है कि - 'वाक्यसहचरितः शरीरोभिनयो वाक्यं नाट्य वाक्यम्।' इस प्रकार नाटक रचना में संवाद ऐसे होने चाहिए जो कथानक को विकासात्मक गति दे तथा शरीरादि अभिनयों से सहज ही संयुक्त होकर दर्शक को प्रमुदित करते हुए लोक धर्म की शिक्षा भी दे। यह नाट्य-धर्मिता **स्कंदगुप्त** में आंशिक रूप में तो प्राप्त होती है, किंतु भाषा और संवाद का अधिकांश काव्यधर्मी ही है और नाट्योचित चंचलता से रहित है। '**स्कंदगुप्त**' में संवाद या स्वगत कथन एक ही बात को कई प्रकार से, कई बिम्बों में ढालकर कई शैलियों में (कभी उच्छ्वसित अनुभूति-प्रवण संलाप शैली में, कभी दार्शनिक मुहावरों की शैली में तो, कभी वैचारिक या व्यावहारिक ऊहापोह की शैली में) प्रकट करते हैं जिससे वस्तु-विकास की गत्यात्मकता तो शिथिल होती ही है, वह दर्शकों की दृष्टि से बहुत दुरुह भी लगती है।

रंग-प्रयोग व्यावहारिक भाषा ही दर्शकीय संदर्भ की दृष्टि से उपयोगी मानी जा सकती है। सर्जनात्मक भाषा की सूक्ष्म व्यंजना और वक्रता अभिनय का आस्वाद लेते समय सामान्यतः दर्शक की पकड़ से बाहर हो जाती है।

नाटक-रचना में सर्व साधारण का ध्यान रखकर व्यावहारिक भाषा या सरल भाषा का प्रयोग ही वांछनीय है। नाटक की रंगमंचीय सफलता के लिए यह आवश्यक होता है। किंतु **स्कंदगुप्त** में प्रसाद ने संस्कृतनिष्ठ, संधि-समास युक्त क्लिष्ट भाषा का प्रयोग किया है यद्यपि उसकी सर्जनात्मकता पाठकों को प्रभावित करती है। सभी पात्र, चाहे उनका सामाजिक स्तर कैसा भी क्यों न हो, एक-सी संस्कृतनिष्ठ सुक्तियों, दार्शनिक मुहावरों से युक्त प्रतीकात्मक और बिम्बात्मक भाषा का प्रयोग करते दिखलाई पड़ते हैं। इस कारण भाषा के स्तर पर पात्रों की अलग-अलग पहचान नहीं हो पाती है। भाषा-प्रयोग से पात्रों की जो अलग पहचान बनती है, वह अभिनय को विश्वसनीय और प्रभावी बनाती है। भटार्क जैसा महाबलाधिकृत जब यह कहता है कि - 'एक दुर्मेय नारी हृदय में विश्व प्रहेलिका का रहस्य बीज है' तो वह दार्शनिक चिंतक-त्वा प्रतीत होता है। पात्र की भूमिका अपेक्षित रूप में व्यक्त नहीं होती। इसी प्रकार शर्वनाग भी, जो एक सामान्य सा सेवक है, जब ऐसी भाषा में उद्गार व्यक्त करता है कि - '.....सदैव इसी सुंदरी खड्गलता की प्रभा पर मैं मुग्ध रहा हूँ।' तो भाषा के स्तर पर उसकी सामाजिक स्थिति की पहचान सुलभ नहीं होती है।

स्पष्ट है कि सर्जनात्मक भाषा का प्रयोग करने के कारण प्रसाद नाट्य-सृजन में, रंगमंचीय सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं। सर्जनात्मक भाषा की शब्दावली पात्रों की स्वानुभूति, अंतर्बोध और कल्पनाशीलता से अभिसिंचित होकर प्रतीकात्मक, बिम्बात्मक और अलंकृत होती है। **स्कंदगुप्त** में भाषा का ऐसा ही सर्जनात्मक रूप मिलता है। नाटक का प्रधान केंद्र चरित्र-चित्रण को बनाने के कारण, चरित्रों के आंतरिक भावों, विचारों, क्रियाओं को छायावादी शैली में विवृत करने के कारण भाषा संवाद में चित्रात्मकता है, अनुभूति-सिक्त स्वयं स्फूर्त कथन, अलंकृत, चित्रात्मक, प्रतीकात्मक और लयात्मक है। प्रसाद, माधुर्य और ओज गुणों से युक्त शब्दों का प्रयोग करने के कारण भी संवादों की भाषा काव्योचित प्रतीत होती है।

स्कंदगुप्त में कई संवाद ऐसे हैं, जिनकी वाक्य रचना बहुत जटिल हैं। संयुक्त, मिश्र और यौगिक वाक्यों में व्यक्त होने से संवाद की भाषा जटिल तो लगती ही है, उसमें विस्तार भी बहुत है। कथन बहुत लम्बे होते हैं। इसका एक उदाहरण दृष्टव्य है :

"विजया : कहती हूँ - और फिर कहूँगी। प्रलोभन से, धमकी से, भय से कोई भी मुझको भटार्क से वंचित नहीं कर सकता। प्रणय वंचिता स्त्रियाँ अपनी राह के रोड़े - विघ्नों को दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ़ होती हैं। हृदय को छीन लेने वाली स्त्री के प्रति हतसर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के विस्फोट से बीभत्स और प्रलय की अनल-शिखा से भी लहरदार होती है। मुझे तुम्हारा सिंहासन नहीं चाहिए। मुझे क्षुद्र पुरगुप्त से विलासजर्जर मन और यौवन में ही जीर्ण शरीर का अवलंब वांछनीय नहीं। कह देती हूँ हट जाओ, नहीं तो तुम्हारी समस्त कुमंत्रणा को एक फूंक में उड़ा दूँगी।"

पात्रों के अंतर्द्वंद्व और दार्शनिक ऊहापोह को व्यक्त करते समय भाषा का जो अलंकृत रूप अपनाया गया है, उसके कारण संवाद लम्बे हो जाते हैं। उपमेय और उपमान में संगति बैठाने के प्रयास में अभिव्यक्ति में फैलाव या विस्तार आ गया है। इस प्रवृत्ति को लक्ष्य करके आलोचक नलिन विलोचन शर्मा ने प्रसाद के नाटकों की भाषा को "पीलपाँवी भाषा" कहा है। पात्रों के अंतर्द्वंद्व या जीवन में अंतर्निहित रोमानी संघर्ष को चित्रित करते समय प्रसाद अनुभूति की नदी में जैसे तैरते जाते हैं। पात्रों की सत-असत् प्रवृत्तियों, पीड़ा-संत्रास, प्रेम-घृणा, हिंसा-अहिंसामूलक भावों को मूर्त रूप देने के लिए प्रतीकों, बिम्बों और उपमान-उपमेय की पारस्परिकता का ऐसा वितान तानते हैं जो अतिरिक्त रूप से फैला हुआ ज्ञात होता है। दर्शन और संस्कृति के मुहावरों के प्रयोग के कारण भाषा दुरुह भी लगती है। स्कंदगुप्त में मातृगुप्त, स्कंदगुप्त, देवसेना, प्रपंचबुद्धि, अनन्तदेवी, प्रख्यातकीर्ति सभी के बहुत से उद्गार इसी प्रकार की अलंकृत भाषा में हैं। इसके उदाहरणस्वरूप मातृगुप्त का निम्निलिखत कथन उद्धृत किया जा सकता है - "तो सब गया! मेरी कल्पना के सुंदर स्वप्नों का प्रभात हो रहा है। नाचती हुई नीहास-कणिकाओं पर तीखी किरणों के भाले! ओह! सोचा था कि देवता जागेंगे, एक बार आर्यावर्त में गौरव का सूर्य चमकेगा, और पुण्य-कर्मों से समस्त पाप-पंक धो जाएंगे हिमालय से निकली हुई सप्त सिंधु तथा गंगा-यमुना की घाटियाँ, किसी आर्य सद् गृहस्थ के स्वच्छ और पवित्र आंगन-सी, भूखी जाति के निर्वासित प्राणियों को अन्नदान देकर संतुष्ट करेंगी, और आर्य जाति अपने दृढ़ सबल हाथों से शस्त्र ग्रहण करके पुण्य का पुरस्कार और पाप का तिरस्कार करती हुई, अचल हिमाचल की भांति सिर ऊँचा किए, विश्व को सदाचार के लिए सावधान करती रहेगी, आलस्य सिंधु में शेष पर्यंकशायी सुषुप्तिनाथ जागेंगे, सिंधु में हलचल होगी, रत्नाकर से रत्नराशियाँ आर्यावर्त की बेला-भूमि पर निछावर होंगी। उद्बोधन के गीत गाए, हृदय के उद्गार सुनाए, परंतु पासा पलट कर भी न पलटा। प्रवीर, उदास-हृदय स्कंदगुप्त कहाँ है? तब कश्मीर! तुझसे विदा।" नाटक में इस प्रकार के भाषा-प्रयोग को अनभिनेय ही कहा जाएगा। इतनी जटिल वाक्यावली को अभिनेता वाचिक, कायिक अथवा सात्विक अभिनय के किसी भी रूप के साथ जोड़कर प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हो सकता। सामान्य दर्शक कथ्य का कितना आस्वाद ग्रहण कर सकेगा, सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

स्कंदगुप्त में प्रसाद ने साहित्यिक संस्कार की सर्जनात्मक भाषा का प्रयोग किया है, यह तो प्रकट ही है। यह भी प्रकट है कि संवादों में अतिरंजित वैचित्र्य और संदर्भों की बहुलता के कारण उसमें फैलाव भी आ गया है। किंतु ऐसा भी नहीं है, कि उसमें नाटकत्व का नितांत अभाव है। उन्हें सर्जनात्मक स्तर की भाषा के नाटकीय मर्म की पहचान थी। यह नाटकीयता स्वर के आरोह-अवरोहमूलक विधान में लक्षित है, भाषा में निहित क्रिया-व्यापार के संकेत एवं तनावपूर्ण स्थितियों में नाटकीयता अक्षुण्ण है। सात्विक अभिनय की मुद्राएँ भी उभर कर सामने आती हैं। इनमें कम नाटकत्व नहीं है। भाषिक अतिरंजना को काट-छांट कर यदि नाटक का रंगमंचीय आलेख तैयार किया जा सके, तो स्कंदगुप्त का प्रदर्शन प्रभावी हो सकता है।

निष्कर्ष यह कि स्कंदगुप्त की नाट्यभाषा में सरल, क्लिष्ट, सजीव निर्जीव संवाद के सभी रूप मिलते हैं। प्रसंगों का जैसा दबाव है उसी के अनुसार भाषा कहीं सरल, कहीं जटिल, कहीं निर्जीव और कहीं सजीव रूप से व्यक्त हुई है। क्लिष्ट भाषा केवल वहाँ प्रयुक्त की गई है, जहाँ नाट्य स्थिति में भावुकता का उन्मेष है, अथवा जहाँ पात्र अंतर्द्वंद्व या दार्शनिक ऊहापोह में खो जाते हैं। इसके विपरीत जहाँ स्थिति व्यावहारिक है या विवरण, सूचना, तनाव, व्यंग्य, हास आदि से संबद्ध है वहाँ भाषा सरल

और सुगठित है। उसमें अभिनयोचित हरकत का रूप भी मिलता है। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि स्कंदगुप्त की नाट्यभाषा समग्र रूप से क्लिष्ट है एवं वह अभिनयोचित चंचलता से सर्वथा रहित है। हास्य-व्यंग्य के संवादों में नृत्यमयी मुद्रा या मुँह चिढ़ाने वाली मुद्रा अभिनयोचित धातुसेन और मुद्गल के संवादों में भाषा का चांचल्य द्रष्टव्य है।

धातुसेन : लोहा बड़ा कठोर होता है। कभी-कभी वह लोहे को भी काट डालता है। उहूँ भाई! मैं तो मिट्टी हूँ - मिट्टी जिसमें से सब निकलते हैं। मेरी समझ में तो मेरे शरीर की धातु मिट्टी है, जो किसी के लोभ की सामग्री सनहीं, और वास्तव में उसी के लिए सब धातु अस्त्र बनकर चलते हैं, लड़ते हैं, जलते हैं, टूटते हैं, फिर मिट्टी हो जाते हैं। इसलिए मुझे मिट्टी समझो धूल समझो।

वातावरण को साकार करने में भी स्कंदगुप्त में नाट्यभाषा का सक्षम रूप प्रकट है। पाँचवे अंक के दूसरे दृश्य में पर्णदत्त के कथन इसे प्रमाणित करते हैं। संवाद वातावरण को तो साकार करते ही हैं, साथ ही वे तीव्र गति से एक के बाद दूसरे प्रसंग की ओर बढ़ते नज़र आते हैं। ऐसे संवाद नाटकीय होते हैं। नाट्यभाषा में प्रकट अभिनयोचित रूप-रंगों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि स्कंदगुप्त की अतिरिक्त वाग्मिता में काट-छाँट करके नाटक का एक रंगमंचीय आलेख तैयार किया जा सकता है। ज्यों का त्यों तो उसे रंगमंच पर उतारा नहीं जा सकता, किंतु उसके उपयुक्त नाट्यालेख को रंगमंच पर प्रदर्शित किया जा सकता है जो संस्कारयुक्त सुपठित दर्शक को बहुत आकर्षक लग सकता है, क्योंकि नाटक में आभिजात्य जीवन की गरिमा का नाटकत्व विद्यमान है। मनोरंजन प्रिय दर्शक के लिए यह नाटक अवश्य ही बोधगम्य नहीं है।

6.5 'स्कंदगुप्त' में गीत सृष्टि

नाटक में गीतों की योजना से भी प्रसाद अपनी नाट्यकला की मौलिकता का आभास देते हैं। प्रसाद के नाटक गहन संवेदना के क्षणों में रचित नाटक है, वे जीवन की भावात्मक उष्मा व्यंजित करने वाली संवेदनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। अन्य नाटकों की तरह ही स्कंदगुप्त में भी नाट्य वस्तु में प्रकट तीव्र संवेदनात्मक क्षणों की अभिव्यक्ति के लिए प्रसाद को जहाँ काव्यमय गद्य-संलाप पर्याप्त प्रतीत नहीं हुए, वहाँ उन्हें गीतों में रूपायित करने का प्रयास किया है। इस प्रयत्न में उन्होंने नाटक के प्रवाह को जगह-जगह बाधित कर दिया है। प्रगीतों के मोहक संसार में खोकर दर्शक कथावस्तु के पूर्वपर संबंध सूत्रों को ढूँढ़ने का प्रयास करता है, तो वह कठिनाई में पड़ सकता है। नाटक के मूर्त व्यापार और प्रगीतों के अंतर्जगत के बीच सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाता। गीतों के अवतरण के कारण नाटक की गति में ठहराव आ जाता है। तथापि, गीतों के माध्यम से पात्रों के चरित्र के अंतर्बाह्य क्रिया व्यापार को हृदयंगम करना सुलभ हो जाता है।

स्कंदगुप्त में कुल 15 गीत हैं। नाटक के प्रत्येक अंक में और कई दृश्यों में, गीतों का विधान किया गया है। गीत कहीं पात्रों के स्वभाव को व्यंजित करते हैं, कहीं कथानक में भाव-दीप्ति का सौंदर्य भरते हैं तथा अंतर्वस्तु के अगोचर, प्रवाह की व्यंजना करते हैं। इस प्रकार, नाट्यवस्तु के संवेदनात्मक रूप-रंग को चटकीला बनाते हैं। उनके द्वारा पात्रों का अंतर्द्वंद्व प्रकाशित हुआ है, तो कहीं उनकी योजना से मूर्त रंग-व्यापार या संघर्षों की रूक्षता दूर करने की प्रवृत्ति लक्षित है तथापि नाटक के कथा प्रवाह में गीत प्रायः बाधक ही बने हैं।

स्कंदगुप्त में कुछ गीत ऐसे हैं, जो मंच पर गाए जाने के लिए हैं। कुछ गीत नेपथ्य गीत के रूप में संयोजित हैं। मंच पर गाए जाने वाले गीत भी कई तरह के हैं। कहीं आमोद-प्रमोद के लिए नर्तकियाँ गीत गाती हैं, (प्रथम अंक, दृश्य दो और चतुर्थ अंक, दृश्य दो) कहीं कोई एक पात्र प्रगीत का गायन कर अंतश्चेतना के अपने मंथन को व्यंजित करता है। (प्रथम अंक, दृश्य तीन), कहीं कई पात्र मिलकर वृंदगान की शैली में उद्बोधन गीत गाते हैं (पंचम अंक, दृश्य तीन और पाँच)। कहीं निराशा से त्राण पाने के लिए प्रार्थना के गीत गाए गए हैं। (प्रथम अंक, दृश्य छह)। इस प्रकार परिस्थिति के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार के गीतों की योजना की गई है। नेपथ्य गीत परिवेश को सघन बनाने के लिए संयोजित किए गए हैं। नाटक में गीत कब और किस प्रकार की परिस्थिति में संयोजित किए गए हैं,

इसकी विवेचना द्वारा स्कंदगुप्त के नाट्य-विधान में गीत-योजना का स्वरूप और महत्व प्रकाशित किया जा सकता है।

'स्कंदगुप्त' की रंगमंचीय संभावना

प्रार्थना के स्वर में वृंदगान करती हुई स्त्रियों को हूण सैनिक जब पकड़ कर खींचते हैं, तभी मातृगुप्त उन सैनिकों पर यह गाते हुए तलवार लेकर दूट पड़ता है कि - "हे प्रभु! हमें विश्वास दो अपना बना लो। सदा स्वच्छंद हो - चाहे जहाँ हों।" वहीं रक्षार्थ संन्यासी वेश में गोविन्दगुप्त भी अप्रत्याशित रूप से उपस्थित और उत्साहित होकर हूण सैनिकों से भिड़ जाते हैं। मंच पर पात्रों के ऐसे समूहीकरण से अप्रत्याशित का रोमांचक दृश्य तो देखने को मिलता ही है, युद्ध की स्थिति में नागरिकों की दुर्दशा का दृश्य भी साकार हो उठता है। प्रार्थना-गीत के परिप्रेक्ष्य में अप्रत्याशित रूप से मातृगुप्त और गोविन्दगुप्त का सहायतार्थ उपस्थित होना नाटककार की ईश्वरीय आस्था को भी व्यंजित करता है। प्रसाद आस्थावादी नाटककार हैं, अव्यक्त के मांगलिक प्रसार में उनका दृढ़ विश्वास है। उनकी यह मान्यता है कि "अनेक अमंगलों में विभु कौन-सा मंगल छिपाए रहते हैं, किसे मालूम?" इसी विश्वास में पात्रों के अप्रत्याशित समूहीकरण का रहस्य निहित है। केवल तार्किक विधान की दृष्टि से देखने पर लगेगा कि जब कथा की गति रुक जाती है, तब उसे आगे बढ़ाने के लिए प्रसाद के नाटकों में पात्र जैसे भूमि फोड़कर उपस्थित हो जाते हैं जो बहुत अस्वाभाविक प्रतीत होता है। किंतु पात्रों का यह अप्रत्याशित समूहीकरण प्रार्थना-गीत के संदर्भ से जोड़े जाने के कारण अपरोक्ष शक्ति में प्रसाद के आस्था-विश्वास को व्यंजित करता है। एक अव्यक्त पात्र-सी नियति का हस्तक्षेप उनके नाटकों में बराबर मिलता है। पात्र-योजना के संदर्भ में इसकी चर्चा की गई है। गीत-योजना के संदर्भ से भी इसे देखा जा सकता है।

अंक एक दृश्य सात में युद्ध के विकट संघर्षपूर्ण माहौल में भी देवसेना प्रणय-गीत गाती है। युद्ध के माहौल में देवसेना का प्रणय-गीत विरोधाभासमूलक है। गाती तो वह प्रणय-गान है किंतु संदर्भ-विशेष को देखते हुए यह गीत उसके क्षत्राणी भाव की अगाध निर्भयता व्यंजित करता है - "भरा नैनों में मन में रूप..." इस प्रकार देवसेना के इस गीत के माध्यम से युद्ध के माहौल के संघर्ष जनित तनाव को ढीला करने का प्रयास भी लक्षित होता है। इससे तनाव में ढील लाकर हौसला बटोरने का कार्य भी सम्पादित हुआ है। इस प्रकार गीत को नाट्यवस्तु की संवेदनात्मक संरचना का अभिन्न अंग बनाया गया है।

अंक दो के दृश्य एक में भी एक गीत संयोजित है। यह भी प्रणयगीत है और देवसेना ने ही इसे भी गाया है। किंतु संदर्भ भिन्न है। विजया और देवसेना दोनों ही स्कंदगुप्त के प्रति आकृष्ट होती हैं, किंतु दोनों के प्रेमाकर्षण के कारण भिन्न-भिन्न हैं। स्कंदगुप्त को प्रेम करने के लिए विजया इसलिए उन्मुख होती है, क्योंकि वह उसे गुप्तकुल का भावी सम्राट समझ लेती है। इस प्रकार अपने ऐश्वर्य-भोग के लिए उसके प्रति आकृष्ट होती है। इस स्थिति को बदलते हुए देखकर स्कंदगुप्त से विमुख ही नहीं होती, अपितु विरोधी प्रतिपक्ष (भटार्क, पुरगुप्त, अनंतदेवी, प्रपंचबुद्धि आदि) से मिलकर स्कंदगुप्त को क्षति पहुँचाने के षड्यंत्र का हिंसक अंग बन जाती है। इसके ठीक विपरीत देवसेना का प्रेम निःस्वार्थ प्रेम है, वह अहेतुक है, निर्व्याज है, उत्सर्गगर्भित है। उसमें भोग का विक्षेप नहीं, त्याग जनित अंतःशीतलता है। यह गीत देवसेना के अनुभूति-प्रवण, समरस और लयात्मक स्वभाव को व्यंजित करता है :

घने प्रेम-तरु तले
फूल चू पड़े बात से भरे हृदय का घाव,
मन की कथा व्यथा-भरी बैठो सुनते जाव,
मिलो स्नेह से गले।
घने प्रेम-तरु तले।

विजया, देवसेना और स्कंदगुप्त को लक्ष्यकर नाटक में प्रेम का जो त्रिकोण बनता है, वह नाटक के संघर्ष को कई तरह से जटिल बनाने का एक कारण बनता है। देवसेना के प्रति उसकी सखी विजया प्रतिहिंसक हो उठती है।

अंक तीन दृश्य दो में विजया और देवसेना अचानक श्मशान भूमि में मिलती है तो वहाँ प्रसाद ने एक नेपथ्य गीत की योजना की है :

'सब जीवन बीता जाता है.....'

विजया देखती है कि देवसेना कितनी भाव-विभोर होकर वह गीत सुन रही है। प्रति हिंसा के लिए आई हुई विजया का मन देवसेना के भोलेपन को देखकर डिग जाता है। प्रसाद की रोमनी जीवन दृष्टि बुरे-से-बुरे नारी-चरित्र को भी सर्वथा कुत्सित रूप में चित्रित नहीं करती। नेपथ्य गीत विजया के चरित्र में सुप्त कोमल मानवीय भावना को जैसे जाग्रत कर देता है।

अंक-पाँच, दृश्य-तीन में एक गीत देशवासियों को जगाने के हेतु देवसेना गाती है - 'देश की दुर्दशा निहारोगे....' इसी अंक के दृश्य-पाँच में मातृगुप्त, पर्णदत्त, स्कंदगुप्त, भटार्क, भीम वर्मा आदि वृंदगान के रूप में गीत गाते हैं - 'हिमालय के आँगन में.....' यह गीत विजय के आलोक की तरह फैलता हुआ गीत है। इसकी दीर्घ लयात्मकता इसी चेतना के अनुरूप है।

इस प्रकार स्कंदगुप्त में प्रत्येक अंक के एक या अनेक दृश्यों में गीतों की योजना की गई है। यह तो स्पष्ट ही है कि इन गीतों से नाटक की गत्यात्मकता में बाधा उत्पन्न होती है। किंतु नाटक की अंतर्वस्तु के प्रकाशन में, पात्रों के चारित्रिक मर्म की विवृति में, उनके स्वभाव की अनुभूतिमूलक गहराइयों को समझने में इन गीतों से बहुत सहायता भी मिलती है। स्कंदगुप्त में पात्रों का, विशेषकर नारी-पात्रों का यह स्वभाव है कि वे अपनी अनुभूति की गहराइयों में उतरकर समस्त रागतत्व के साथ अपनी स्थिति को अभिव्यक्ति करती है। सभी पात्र, विशेषकर नारी-पात्र, अपने जीवन की किसी गहन संवेदनात्मक स्थिति को प्रकाशित करते हुए आत्मानुभूति के तीव्र क्षणों में प्रगीतात्मक गीत गाकर अपनी मनोदशा को व्यक्त करते हैं। ये गान नाटकीय गत्यात्मकता के अवरोधक तो हैं, किंतु अंतर्वस्तुगत संवेदना, बाह्य वस्तुगत परिवेश की मार्मिकता, अथवा काव्यात्मक नाट्य स्थितियों के वे अभिन्न अंग भी ज्ञात होते हैं। पात्रों की परिस्थितिजन्य भावुकता या संबंधगत भावनात्मकता प्रगीतात्मक गानों में अनायास ही फूट पड़ी-सी प्रतीत होती है। संवादों की भाषिक संरचना में गीतों का संग्रंथन, इस प्रकार, स्थितियों की अभिव्यक्ति को सजीव बनाने में योगदान करता है।

स्कंदगुप्त में हर महत्वपूर्ण दृश्य में कोई न कोई पात्र परिस्थितिजन्य भावमयता के वशीभूत होकर गीत गाने लगता है। नाटक के अंक-एक दृश्य-दो में हम देखते हैं कि मातृगुप्त (कालिदास) स्वभाव-से ही एक कवि पात्र है। वह जन्मभूमि (काश्मीर) में बिताए गए सुखमय जीवन का स्वप्न देखते हुए स्वगत कथन करता हुआ सहसा यह गीत गाने लगता है - 'संसृति के सुंदरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना....' इसी प्रकार भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में गाए गए देवसेना, विजया, आदि के गीत भी उनके आंतरिक आवेग एवं द्वंद्व की सशक्त व्यंजना करते हैं।

स्कंदगुप्त में पात्रों की परिस्थिति जनित भावुकता को प्रकाशित करने के अतिरिक्त दूसरे-दसूरे रूप में भी गीत सन्निविष्ट किए गए हैं। वे गीत भी वस्तु-योजना में अपने ढंग से संग्रंथित हैं। कुछ प्रणय गीत महफिल की शैली के हैं जिन्हें नर्तकियाँ गाती हैं।

नाटक में कुछ गीत ऐसे हैं, जो देश की विपन्न दशा से उत्पन्न नैराश्य के परिप्रेक्ष्य में गाए गए हैं। ऐसे गीत प्रायः प्रार्थना गीत हैं। शत्रुओं से पददलित देश की विपन्न दशा को लक्ष्यकर पर्णदत्त के साथ देशोद्धार के लिए भीख माँगती हुई देवसेना गाती है : 'देश की दुर्दशा निहारोगे.....'

गीतों का एक अन्य रूप नेपथ्य गीतों का है। ये गीत मंचगत व्यापार की संवेदनीयता को सघन बनाते हैं, अतः नाटक में इनका संयोजन कलात्मक प्रतीत होता है। नेपथ्य गीतों के द्वारा पात्रों के द्विधा-विभक्त मन को एक सुनिश्चित दिशा में मोड़ने का प्रयास लक्षित है। ऐसे गीत पात्रों के विपण्ण मन को कहीं सान्त्वना देते हैं, तो कहीं परिस्थिति से लड़ने को उत्साहित करते हैं।

इस प्रकार स्कंदगुप्त में गीत-योजना नाटक की काव्यात्मकता को सुदृढ़ करती है। उसकी योजना से कहीं नाटक की अंतर्वस्तु का विस्तार किया गया है, कहीं अंतर्वस्तु और बाह्यवस्तु को जोड़ने का प्रयास दिखाई पड़ता है। कहीं उनसे नाट्य-व्यापार की दिशा निर्धारित होती है, तो कहीं पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ उद्घाटित की गई हैं। किंतु यह भी प्रकट है कि गीतों से नाटक के अभिनयात्मक व्यापार में शिथिलता आती है। कभी-कभी तो नाट्य-व्यापार इतना स्थिर हो जाता है कि दर्शक के लिए उबने की संभावना पैदा हो जाती है।

समग्रतः अभिनय की दृष्टि से स्कंदगुप्त की संरचना जटिल ही ज्ञात होती है। दृश्यों और पात्रों की इतनी अधिकता है, कि रंगमंच की सीमा में वे सिमट नहीं पाते। पात्रों के कितने ही रूप एक साथ सामने आते हैं जिससे उनका समुचित रूप से समूहीकरण असंभव दिखलाई पड़ता है। ऐतिहासिक पात्र, काल्पनिक पात्र, नागरिक पात्र, सैन्य दल, धर्माचार्य आदि और उनके क्रिया-कलाप के वैविध्य को समूहीकरण में व्यवस्थित करना सुलभ नहीं है। रंगमंच की कई भूमियों पर क्रिया व्यापार को संयोजित करके भी संवेदना का अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न नहीं किया जा सकता। सबसे बड़ी समस्या तो भाषा और संवादों की है। अभिनेता के लिए अभिनय के साथ उसे व्यक्त करना भी कठिन है और उसकी अर्थमूलक सूक्ष्म व्यंजनाओं एवं दार्शनिकता का दर्शक द्वारा ग्रहण दोनों ही कठिन हैं। नाटक की सार्थकता दर्शक द्वारा नाट्यार्थ और नाट्यगत संवेदनाओं की ग्राह्यता में है। दर्शक की ग्राह्यता की दृष्टि से स्कंदगुप्त एक दुरुह नाटक है। अतः अभिनय की प्रयोजनीयता ही सिद्ध न हो तो नाटक को अभिनेय नहीं माना जा सकता है।

6.6 सारांश

जयशंकर प्रसाद के नाटक स्कंदगुप्त से संबंधित इस इकाई में आपने नाटक की रंगमंचीय संभावनाओं का अध्ययन किया है। प्रसाद के उक्त नाटक को रंगमंच पर खेले जाने की दृष्टि से विचार करने पर हमारे सामने कई ऐसी बातें उभरकर आती हैं जिनका विवेचन करने से हम इसकी चुनौतियों को समझ सकते हैं। स्कंदगुप्त पांच अंकों में विभाजित पूर्ण नाटक है। प्रत्येक अंक में प्रायः छह या सात दृश्य हैं। इस प्रकार कुल तैंतीस दृश्य हैं। किसी नाटक में तैंतीस बार दृश्यों के बदलने से उसकी प्रभावान्विति में बाधा उत्पन्न होती है दृश्य परिवर्तन के साथ स्थान और स्थिति में भी भारी फेरबदल होता है। उदहारण के लिए प्रथम अंक का पहला दृश्य उज्जयिनी में गुप्त साम्राज्य के स्कंधवार में घटित होता है और दूसरा दृश्य कुसुमपुर के राजमंदिर में जबकि तीसरा दृश्य रास्ते का है और चौथा दृश्य अनंतदेवी के प्रकोष्ठ में। ऐसे में यह कैसे संभव है कि मंच पर तेजी से दृश्य परिवर्तन के अनुसार रंगसज्जा में परिवर्तन किया जा सके।

प्रसाद के नाटक स्कंदगुप्त में दृश्यों में क्रिया व्यापार की एकता का भी अभाव दिखाई देता है। किसी दृश्य में घटनाएं तेजी से घटती हैं, किसी में शिथिलता आ जाती है। संवादों की भाषा भी रंगमंच के अनुरूप नहीं है। संस्कृतनिष्ठ शब्दावली, लंबे और दुरुहवाक्य के कारण संवादों की दर्शकों तक संप्रेषणीयता सहज नहीं रहती। यद्यपि संवाद में नाटकीयता, अलंकारिकता, बिंबात्मकता और प्रतीकात्मकता होने की वजह से नाटक में काव्योचित गुण आ गए हैं, लेकिन इससे नाटक की रंगमंचीय संभावना को क्षति पहुँची है।

प्रसाद के नाटक स्कंदगुप्त में अभिनेयता की दृष्टि से कई कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। बार-बार दृश्य परिवर्तन, ऐसी घटनाओं और व्यापारों का उल्लेख जिन्हें रंगमंच पर दिखाना लगभग असंभव है और यदि उन्हें सांकेतिक रूप में दिखाते हैं तो अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ता। चरित्रों की अधिक संख्या भी नाटक की अभिनेयता की सीमा को प्रदर्शित करती है। इन सीमाओं के बावजूद नाटक के चरित्र प्रभावशाली हैं, उनका विकास मनोवैज्ञानिक यथार्थ के अनुरूप हुआ है और चरित्रों के अतर्बाह्य द्वंद्वों को अभिव्यक्त करने में भी नाटककार पर्याप्त सफल कहा जा सकता है।

प्रसाद के नाटकों की एक प्रमुख विशेषता है, उसमें गीतों की रचना। स्कंदगुप्त में सभी अंकों में गीतों के लिए प्रसाद जी ने अवकाश निकाल लिया है। प्रसाद ने इस नाटक में कुल 15 गीत शामिल किए हैं जो विभिन्न स्थितियों, मनःस्थितियों और भावनाओं को व्यक्त करते हैं। इन गीतों का दृश्यों में संयोजन सदैव प्रभावशाली नहीं बन पाया है। वे कई बार नाटक के सहज प्रवाह और नाटकीयता को बाधित करते हैं। इस दृष्टि से प्रसाद के गीत नाटक की रंगमंचीयता को बाधित ही करते हैं।

इस इकाई के अध्ययन से आपको रंगमंच की दृष्टि से 'स्कंदगुप्त' नाटक की विशेषताओं को समझने मदद मिलेगी।

अभ्यास

1. 'पारसी रंगमंच के कटु आलोचक होते हुए भी स्कंदगुप्त की रंगमंचीय योजना पर उसका प्रभाव है।' क्या आप इस कथन से सहमत हैं? अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।
2. अभिनेयता की दृष्टि से स्कंदगुप्त की भाषा और संवाद का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।
3. स्कंदगुप्त नाटक की गीत योजना की सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए, उनकी विशेषताएँ बताइए।

परिशिष्ट - 1 : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और 'अंधेर नगरी'

जीवन परिचय

साहित्य और जीवन का रिश्ता अटूट होता है। जीवन की ही विशिष्ट अनुभूतियों का रंग साहित्य में व्यक्त होता है। कभी-कभी साहित्यकार के जीवन से ही कुछ ऐसे सूत्र निकल आते हैं, जो उसके मनोजगत को समझने में मदद करते हैं। खासकर उस साहित्यकार के संदर्भ में यह बात और भी प्रामाणिक हो जाती है जिसका जीवन वैविध्यपूर्ण हो। भारतेन्दु बाबू के जीवन में विविधता है, जिसे जानना आवश्यक है ताकि उनके साहित्य को सही ढंग से समझा जा सके।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म बनारस के एक संपन्न परिवार में 9 सितम्बर सन 1850 ई. को हुआ था। डॉ. रामविलास शर्मा की टिप्पणी इस संदर्भ में बड़ी मार्मिक है, 'जैसे कीचड़ में कमल खिलता है वैसे ही इस अंग्रेज भक्त महाजन परिवार में भारतेन्दु का जन्म हुआ।' इनके पिता गिरधर दास अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे। भारतेन्दु का प्रारंभिक जीवन सामन्ती वैभव और विलास से परिपूर्ण था। लेकिन पाँच वर्ष की उम्र में मातृत्व की स्नेह छाया इनके ऊपर से उठ गयी और दस वर्ष की अवस्था में इनके पिता का भी देहावसान हो गया।

भारतेन्दु स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति थे। चंचल और उद्धत स्वभाव के होने के कारण इनका मन कॉलेज की शिक्षा में नहीं लगा, हालाँकि उन्होंने कवीन्स कॉलेज में दाखिला लिया था। कॉलेज छोड़ने के बाद भारतेन्दु ने स्वाध्याय द्वारा ज्ञान प्राप्त किया। इन्होंने मराठी, बँगला, गुजराती, पंजाबी आदि कई भारतीय भाषाएँ भी सीखीं। वे राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द के यहाँ अंग्रेजी पढ़ने जाते थे। स्वाध्याय द्वारा ज्ञानोपार्जन करने के कारण वे पश्चिम के अंधानुकरण से अपने को अलग रख सके। उनके जीवन की तरह साहित्य में भी खुलापन है। इसीलिए वे एक ओर पद्माकर, द्विजदेव की परंपरा में दिखाई पड़ते हैं, तो दूसरी ओर बंगाल के माइकेल मधूसूदन दत्त और हेमचंद्र की श्रेणी में।

तेरह वर्ष की अवस्था में इनका विवाह लाला गुलाब राय की पुत्री महादेवी के साथ संपन्न हुआ। 15 वर्ष की अवस्था में घर की स्त्रियों के आग्रह से उन्होंने सकुटुम्ब जगन्नाथ की यात्रा की। यह यात्रा जहाँ एक ओर उनकी शिक्षा में बाधक सिद्ध हुई, वहाँ उससे उन्हें अनेक प्रकार के अनुभव और नवीन भावों और विचारों से परिचित होने का अवसर भी प्राप्त हुआ। उन्होंने बंगला में नए ढंग के सामाजिक, ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक और उपन्यास आदि पढ़े। हिन्दी में वैसी पुस्तकों का अभाव उन्हें महसूस हुआ। 1871 में वे फिर यात्रा पर निकल पड़े, तीस दिन की यात्रा में उन्होंने कानपुर, लखनऊ, सहारनपुर, मसूरी, हरिद्वार, लाहौर, अमृतसर, दिल्ली, ब्रज और आगरा का भ्रमण किया। इस प्रकार की अनेक यात्राएँ उन्होंने की। नवंबर 1884 में अत्यंत समारोह के साथ बलिया में उनका व्याख्यान हुआ। बलिया से लौटने के उपरान्त थोड़े समय बाद ही 6 जनवरी 1885 को पैंतीस वर्ष की अवस्था में उनका निधन हो गया।

भारतेन्दु के साहित्य में यदि विविधता है तो उसमें उनके द्वारा की गई यात्राओं का बड़ा महत्व है। उन्होंने भारतीय जीवन को नजदीक से देखा और अनुभव किया था। इसीलिए उनके साहित्य में सच्चाई की खुशबू है। उन्होंने विभिन्न स्थानों के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन से परिचय प्राप्त किया था। हरिश्चंद्र को भारतेन्दु की पदवी मिलने के संबंध में प्रायः एक घटना का उल्लेख किया जाता है। एक बार काशी के प्रसिद्ध पंडित बाल-शास्त्री ने अपनी व्यवस्था से कायस्थों को क्षत्रिय बताया। इस बात पर हरिश्चंद्र ने 'जातिगुपाल की' नाम से अपनी पत्रिका में काशी के पंडितों की खिल्ली उड़ाई। इन पंडितों में से एक पंडित रघुनाथ ने कहा कि जैसे आप सुयश से जाहिर हो उसी तरह भोग-विलास और बड़ों के असम्मान से आप कलंक भी हों, इसीलिए आज से मैं आपको भारतेन्दु नाम से पुकारूँगा।

भारतेन्दु की प्रतिभा चौमुखी थी। वे व्यक्ति नहीं संस्था थे। पत्रकारिता का क्षेत्र हो, साहित्यिक संस्थाओं का हो अथवा समाजसेवी संस्था का, उनकी भूमिका अग्रणी होती थी। वे अत्यंत जीवंत और मित्रपरायण व्यक्ति थे। उन्हें अपने व्यक्तिगत सुख-दुख की पररवाह नहीं रहती थी। उनमें फक्कड़पन और विराग का भाव था। लेकिन ऐसा जो जीवन में रस लेते, हिस्सा बंटते, रंजन और विनोद करते आदमी में उपजता है। उनके यहाँ राग, विराग में कोई अन्तर्विरोध नहीं है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में

कह सकते हैं 'प्राचीन और नवीन के इस संधिकाल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ, इसमें संदेह नहीं।'

साहित्यिक योगदान : भारतेन्दु को आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रवर्तक के रूप में जाना जाता है। उनके योगदान को देखकर ही उस काल को 'भारतेन्दु युग' नाम दिया गया। भारतेन्दु के यहाँ परंपरा और आधुनिकता के संबंधों को लेकर जिज्ञासा का भाव है। उनमें परंपरा का आत्मविश्वास है तो आधुनिकता को जानने की इच्छा भी। उनकी अन्तर्दृष्टि में पारंपरिक विवेक बद्धमूल हैं। भारतेन्दु अपनी परंपरा में विश्वास रखने वाले उन दुर्लभ बुद्धिजीवियों में से हैं जिन्होंने पश्चिम का अंधानुकरण नहीं किया। वे अपनी परंपरा की रूढ़ियों से लगातार जूझते हैं, तो वे ठेठ भारतीय जीवन के सच्चे प्रतिनिधि भी दिखाई पड़ते हैं।

हिंदी पत्रकारिता के क्षेत्र में भारतेन्दु के योगदान का ऐतिहासिक महत्व है। अपनी पत्रिकाओं द्वारा उन्होंने लेखकों को मंच प्रदान किया, उन्हें लिखने की प्रेरणा दी और उन्हें भी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित करने के लिए प्रोत्साहित किया। उन्होंने 1868 में **कविवचन सुधा** नाम से पत्रिका निकाली। 1873 में उन्होंने **हरिश्चंद्र मैगजीन** नामक मासिक पत्रिका निकाली, बाद में इस पत्रिका का नाम उन्होंने **हरिश्चंद्र चंद्रिका** कर दिया। 1874 में उन्होंने स्त्रियों के लिए **बालाबोधिनी** नामक पत्रिका निकाली।

आधुनिक गद्य साहित्य का प्रवर्तन नाटकों से हुआ। भारतेन्दु ने बहुत कठिन समय में नाट्य कर्म को सार्थक बनाया। 18 वर्ष की आयु में उन्होंने बंगला से **विद्या सुन्दर** नाटक का हिंदी में अनुवाद किया। उन्होंने नाटकों के लिए सामग्री जीवन के विविध क्षेत्रों से चुनी। भारतेन्दु के मौलिक नाटक निम्नलिखित हैं :

वैदिक हिंसा हिंसा न भवति (1873), चंद्रावली (1876), विषय विषमौषध, भारत दुर्दशा (1876), नीलदेवी (1881), अंधेर नगरी, प्रेम जोगिनी (1875) और सतीप्रताप (अधूरा)।

अनूदित नाटक : **विद्यासुन्दर, पाखंड विडंबन, घनंजय विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्राराक्षस, सत्य हरिश्चंद्र, भारत जननी।** भारतेन्दु युग हिंदी नाटक साहित्य के इतिहास में अपवाद का काल रहा है जिसमें नाटककार और रंगकर्मी तथा नाटक और रंगमंच के बीच सीधा संबंध रहा है।

यद्यपि सबसे अधिक रचना उन्होंने नाटकों की ही की पर हिंदी साहित्य के सर्वतोमुखी विकास की ओर उनका बराबर ध्यान रहा। 'काश्मीर कुसुम' और 'बादशाह दर्पण' आदि लिखकर उन्होंने इतिहास की रचना की। उन्होंने 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती' नामक कहानी लिखनी शुरू की जिसे वे पूरा नहीं कर पाये। भारतेन्दु का व्यक्तित्व अत्यंत सजीव था। उनके व्यक्तित्व की छाप सबसे अधिक निबंधों में उभरती है। समाज सापेक्ष होने के कारण उनके निबंधों में विषय वीविध्य है - ऐतिहासिक, साहित्यिक, कला संबंधी निबंधों में सुविचारित दृष्टि व्यक्त हुई है। इन निबंधों में व्यंग्य शैली का अद्भुत आकर्षण विद्यमान है।

भारतेन्दु का साहित्यिक व्यक्तित्व एक कवि का व्यक्तित्व था। उन्होंने काव्य से ही अपने लेखन की शुरुआत की। उनकी कविता पुरानी प्रवृत्ति के झरोखे से आधुनिक संवेदना को निहारती नजर आती है। जहाँ उनमें रीति और भक्ति की प्रवृत्ति दिखायी पड़ती है, वहीं ब्रजभाषा पर गद्य का दबाव है। उनकी वाणी में देश भक्ति का स्वर सबसे ऊँचा था। उनकी कविता में अतीत की गौरव गाथा है, कहीं वर्तमान अधोगति की क्षोभ-भरी वेदना, कहीं भविष्य से आशंकित चिंता का स्वर है। भारतेन्दु उर्दू में 'रसा' नाम से कविता करते थे। उन्होंने खड़ी बोली में लावनियाँ और खयाल भी रचे। उनके द्वारा रचित काव्य कृतियों की संख्या सत्तर हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं : **प्रेमसरोवर, गीत गोविन्द, वर्षा विनोद, विनय प्रेम पचासा, प्रेम फुलवारी, वेणुगीति, आदि।**

भारतेन्दु में अपनी भाषा के प्रति अपनत्व का भाव है। हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के उपयोग के लिए उन्होंने व्यापक संघर्ष किया। हिंदी भाषा और नागरी की उपयोगिता समझाने के लिए बहुत से नगरों में उन्होंने व्याख्यान दिए जिनका बड़ा महत्व है। जहाँ जाते थे वहाँ अपना यह मूल मंत्र अवश्य सुनाते थे :

'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।

भारतेन्दु का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर बड़ा ही मंगलकारी हुआ। उन्होंने गद्य की भाषा को परिभाषित कर उसे स्वच्छ रूप दिया, वहीं साहित्य को नए भाव बोध और नयी संवेदना से जोड़ा। अज्ञेय के शब्दों में "खड़ी बोली के माध्यम से हिंदी साहित्य का जो उन्मेष उन्नीसवीं सदी के मध्य से आरंभ हुआ, उसकी सबसे अधिक उल्लेखनीय विशेषता यह नयी लौकिकता अथवा लौकिक दृष्टि ही है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने इस प्रवृत्ति को एक घना-पुंजित, आत्मचेतन और सोदेदृश्य रूप दिया। हासशील दरबारों के दूषित वातावरण में क्षय प्राप्त होते हुए हिंदी साहित्य को उबार कर नयी लोकभूमि पर लाये।

रचना के बारे में : अंधेर नगरी लिखने से पूर्व भारतेन्दु बंगला से कई नाटकों का अनुवाद कर चुके थे। इसके अलावा **वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, चंद्रावली, विषय विषमौषधम्, नील देवी, भारत दुर्दशा** आदि मौलिक नाटक लिख चुके थे। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि नाट्य लेखन में उनकी कलम मंज चुकी थी। अंधेर नगरी प्रहसन की रचना 1881 ई. में हुई थी। बनारस के नेशनल थियेटर के मंचन के लिए एक ही बैठक में भारतेन्दु ने इसकी रचना कर डाली। कहा जाता है कि बिहार प्रांत के किसी जमींदार के अन्यायों को लक्ष्य करके उसे सुधारने के लिए इस कृति की रचना हुई थी। इस नाटक का उक्त सज्जन पर अच्छा प्रभाव पड़ा था। उन्होंने हिंदी प्रचारार्थ भारतेन्दु जी की सहायता ग्रंथ छपवाने में की थी।

महत्व : अंधेर नगरी भारतेन्दु का सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यंग्य नाटक है, जो सत्ता की विवेकहीनता को सामने लाता है। सत्ता शब्द की व्याप्ति राजनीति तक सीमित न होकर जीवन के विविध क्षेत्रों में दृष्टिगोचर होती है। यदि उसमें विकृति आती है, तो उसका प्रभाव धर्म, राजनीति, अर्थव्यवस्था और न्यायव्यवस्था में दीखता है। नाम के अनुरूप ही यह रचना एक पूरी व्यवस्था की प्रतीक है। यह नगर दूर से बड़ा सुंदर दिखायायी पड़ता है, पर वास्तविक स्थिति क्या है? 'आन्धाधुन्ध मच्यौ सब देसा, मानहुँ राजा रहत विदेसा।' अंग्रेजी राज्य पर कितना कड़ा व्यंग्य है साथ ही आज के संदर्भ में कितना प्रासंगिक कि जो सत्ता के शीर्ष पर हैं, वे जनता के हाल से कितना बेखबर हैं। औपनिवेशिक सत्ता के दबाव में भारतीय जीवन-मूल्य और सांस्कृतिक मूल्य कितने विकृत हो गए हैं, उसका स्पष्ट चित्रण है। पैसा कभी भी भारतीय जीवन के केन्द्र में उस तरह नहीं रहा जिस तरह वह भारतेंदु के समय में दिखाई देने लगा था। यहाँ पैसे के वास्ते धर्म, संस्कृति, कुल और मर्यादा सभी चीज बिकाऊ हो गयी है। आज जब हम नये बाजारवाद के दौर में जी रहे हैं, जहाँ बाजार और विज्ञापन का अपना तंत्र है वहाँ अंधेर नगरी में बाजार के दृश्य में इसकी कितनी सार्थक ढंग से अभिव्यक्ति हुई है। मूल्यहीनता से अराजकता उत्पन्न होती है इसलिए जीने के लिए कोई न कोई मूल्य चाहिए। कपास और कपूर, कौआ और हंस की पहचान हर युग के लिए आवश्यक है। आधुनिक मनुष्य की नैतिकता और मानसिकता को इन पंक्तियों में देखा जा सकता है 'भीतर होई मलिन की कारो, चाहिए बाहर रंग चटकारो'! दोहरे मानदंड ने न्यायव्यवस्था को भी जटिल बना दिया। न्यायव्यवस्था तर्क जाल में ऐसी फँसी हुई है कि कल्लू बनिया कभी नहीं पकड़ा जाता है। यह आज की व्यवस्था के संदर्भ में भी प्रासंगिक है। धर्म में त्याग के स्थान पर भोग व्याप्त हो गया है। यह कृति रंगकर्मी के लिए भी उतनी ही प्रासंगिक है। इस नाटक की संरचना इतनी खुली हुई है कि यदि सत्यव्रत सिन्हा ने इसे पश्चिम की विसंगतवादी शैली में खेला तो, बी.वी. कारंत की प्रस्तुति दक्षिण भारत के यक्षगान शैली में हुई। सत्यव्रत सिन्हा के अनुसार 'किंतु आश्चर्य है कि अनेक काल खंड पार कर यह प्रहसन अभी भी ताजा बना हुआ है। सत्य हरिश्चंद्र या चंद्रावली अपनी जगह पर हैं किंतु अंधेर नगरी बार-बार डग भर लेता है।'

अंतर्वस्तु : अंधेर नगरी में पुरानी लोककथा के माध्यम से पूरे अंग्रेजी शासन की खिल्ली उड़ाई गई है। छह अंकों / दृश्यों का यह नाटक अपनी अंतर्वस्तु की विविधता में जीवन और सभ्यता के कई मार्मिक प्रश्नों को छूता है और उस पर चोट करता है। प्रथम दृश्य में महंतजी और उनके शिष्य को भिक्षाटन करते हुए दिखाया गया है जहाँ उन्हें दूर से नगर सुंदर दिखायी देता है। दूसरा दृश्य बाजार का है। जो ग्रामीण हाट का उदाहरण प्रस्तुत करता है। जहाँ सभी कुछ एक ही कीमत पर बिकते हैं। प्रथम दृश्य में धर्म की झांकी और दूसरे दृश्य में बाजार इस प्रकार भारतेंदु एक नाटकीय कन्ट्रास यहाँ रचते हैं। तीसरा दृश्य जंगल का है, जहाँ उनका शिष्य गोबरधन नगर छोड़ने को तैयार नहीं है। वहीं गुरु नगर में क्षण भर रुकने को तैयार नहीं है। दो पीढ़ियों के बीच टकराव की स्थिति को नाटककार बड़ी सहजता से सामने रखता है। चतुर्थ दृश्य में राजा की विवेकहीनता, और न्याय की जटिल प्रणाली पर कुठाराघात है, अंधेरा इस कदर बढ़ गया है कि अपराध कोई करता है, राजा किसी और को सुनाई जाती है और

सजा कोई तीसरा ही पाता है। पाँचवे दृश्य में गोबरधनदास को फाँसी के लिए पकड़ लिया जाता है। क्योंकि इस अराजक स्थिति में 'साधू महात्मा इन्हीं लोगों की दुर्दशा है'। छठे दृश्य में महंत की सूझबूझ से राजा स्वयं फाँसी चढ़ जाता है। अविवेकी और प्रमादी राजा की यही परिणति होनी थी। इस प्रलोभन की नगरी में गुरु की चेतावनी के बावजूद उसका शिष्य अर्थ-लोभ की ओर अग्रसर हो गया। इस प्रकार दृष्टांत शैली के माध्यम से भारतेन्दु ने चौपट राजा और लोभी शिष्य के दुष्टपरिणाम दिखाए हैं। इसके मूल में व्यवस्था के दोष को रेखांकित किया गया है जहाँ केवल स्वार्थ और लोभ पनप रहा है।

भाषा शैली : भारतेन्दु लोकधर्मी नाटककार हैं। उनकी अनुभूति अपनी अभिव्यक्ति का स्रोत लोक की विशाल संपदा में ही ढूँढती है। **अंधेर नगरी** की भाषा और शैली में व्यंग्य की प्रधानता है। कथा को लोकवार्ता से लिया गया है। इस कृति में नाटककार ने लोक व्यवहार में प्रचलित शब्दों में निहित मासूमियत की पहचान नाट्यानुभूति के विशिष्ट संदर्भ में की है। बाजार की भाषा का अपना लहजा है। शब्दों और ध्वनियों का वैविध्य दर्शनीय है। महंत की वाणी में संतों की वाणी का स्पर्श है। दरबार की भाषा में तार्किक संगति का अभाव है जिससे व्यंग्य पैदा किया गया है।

नाट्य भाषा के अनुरूप इसमें काव्य की सूक्ष्मता और दृश्य बिंब प्रधान भाषा का प्रयोग हुआ है। भारतेन्दु इस नाटक में भाषा की मौखिक परंपरा की दुनिया में प्रवेश करते दिखाई देते हैं जहाँ बोली के असंख्य रूप हैं। यहाँ लोकोक्ति के प्रयोग में लोक जीवन का सारभूत अंश ही नहीं है, गीत भी हैं। ये गीत कई प्रकार के स्रोत और उद्देश्य के बारे में दिलचस्प सवाल पेश करते हैं। उनमें नाटकीय सघनता, छंदोबद्धता, तुकबंदी, प्रतीकों की पारंपरिक शब्दावली और लाक्षणिक प्रयोग के ठोस रूप आये हैं। लोक जीवन की तरह इस नाटक में भी खुलापन है, किसी भी पद्धति से इसे मंचित करने में कोई बाधा नहीं आती।

अंधेर नगरी : कैसे पढ़ा जाए?

हर विधा का अपना अनुशासन होता है। नाटक भी साहित्य की एक विधा है। कृति के मर्म को समझने में माध्यम के उस विशिष्ट चुनाव को भी समझना आवश्यक है। लक्ष्य का संबंध माध्यम से भी होता है। कोई रचना यदि कहानी और उपन्यास से अलग नाटक को अपना माध्यम बनाती है तो क्यों? उस संवेदना के बीच छिपी हुई नाटकीयता की पहचान आवश्यक है। अब देखना यह है कि नाटक अन्य साहित्यिक विधा से यदि अलग है तो इसलिए कि उसमें अभिनय का तत्व जुड़ा है। शब्द और अभिनय की इन संभावनाओं की खोज पढ़ते समय अवश्य करनी चाहिए।

किसी नाटक को समझने का बेहतर तरीका यह होगा कि मंचन की प्रक्रिया को ध्यान में रखें। **अंधेर नगरी** नाटक को भारतेन्दु ने मंचन के लिए लिखा था। मंचन में दृश्य और पात्र की संभावनाओं को ध्यान में रखना चाहिए। महंत और उसके शिष्य राजा और मंत्री इस विभिन्न पात्रों के बीच बनते बिगड़ते संबंधों पर गौर करना आवश्यक है। बाजार का दृश्य, राजभवन का दृश्य, श्मशान का दृश्य - में व्यंग्य और यथार्थ को देखा जा सकता है। यदि नाटक में गीत रखे गये हैं तो उनका कितना संभावनापूर्ण प्रयोग हो सकता है। चरित्र के विन्यास को थोड़ा सा बदलकर, उसमें कितनी अर्थ भंगिमा पैदा की जा सकती है। मंच को केन्द्र में रखकर यदि नाट्य कृति का आस्वादन करें तो, वह रोचक भी होगा और नाटक को समझने में मदद भी करेगा।

नाट्यकृति की रचना भाषा के माध्यम से होती है और उसमें लेखकीय संवेदना की अभिव्यक्ति होती है। प्रत्येक कृति इस अर्थ में दूसरे से भिन्न होती है कि उसमें लेखकीय अनुभव और उसकी भाषिक क्षमता अलग-अलग ढंग से प्रकट होती है। इसी में उसका नयापन निहित होता है। उसमें नयापन का बोध किस प्रकार रूपायित होता है इसे समझने का प्रयास करना चाहिए। व्यवस्था की अराजकता का प्रश्न कोई नई बात नहीं है। लेकिन एक छोटी सी कृति में कितनी तरह से समाज पर व्यंग्य करने की क्षमता है। इस क्षमता को पढ़ते के समय परखने की जरूरत है। हर साहित्यिक रचना में वर्तमान के प्रासंगिक दृश्य को वाणी देने की क्षमता विद्यमान होती है। प्रासंगिकता की पहली शर्त यही है कि जिस समय में जी रहे हैं उस समय में कृति हमें कुछ देने की सामर्थ्य रखती है या नहीं। ऐतिहासिक चेतना और वर्तमान द्वारा कृति को समझा जाता है। **अंधेर नगरी** का समाज सामंतवादी था। वह समाज टूट चुका है। लेकिन पूँजीवाद के नये दौर में बाजार व्यवस्था का प्रभुत्व है, इस कृति में क्या आज के बाजारवाद

को परिभाषित करने की सामर्थ्य है। इसी तरह अनेक प्रश्नों को आज से जोड़कर देखने से कृति की प्रासंगिकता को परिभाषित किया जा सकता है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और 'अंधेर नगरी'

भाषा के तौर पर यदि अंधेर नगरी को पढ़ें तो हिंदी भाषा की शक्ति का पता चलता है। भाषा में पहला उल्लेखनीय गुण व्यंग्य की ओर संकेत करता हुआ दिखायी पड़ता है। इसे पहचानने की जरूरत है। पात्रों के अनुसार बोली, टोन और लय बदलते हैं। उसी से भाव परिवर्तित होते रहते हैं। भाषा की रचनात्मक शक्तियों की पहचान इसके द्वारा की जा सकती है। नाटक में संवाद हमारे जीवित सामाजिक संपर्क की भाषा से जनमे होते हैं। इस को ध्यान में रखकर नाट्यकृति का अध्ययन करना सार्थक होगा।

संदर्भ और शब्दावली

राम भजो.....

यह गीत लोक परंपरा में भजन कहलाता है। इस भजन का एक रूप प्रातकाली है जो सवेरे के समय गाया जाता है। यह भजन भी प्रातकाली है। इस भजन में तुलसीदास और सूरदास का नाम आता है, लेकिन यह उनका रचा हुआ नहीं है। इसकी रचना मौखिक लोक परंपरा में हुई है। प्रामाणिक बनाने के लिए भक्त कवियों के नाम डाल दिये गये हैं।

गीघ का संदर्भ जटायु से है जिसका उल्लेख 'रामचरित मानस' में आता है।

नसाई - नष्ट होना।

कविकुलराई - कवि श्रेष्ठ।

भिच्छा - उच्छा - भिक्षा का तद्भव रूप। पूरबी हिंदी के प्रयोग के साथ सहचर 'उच्छा' शब्द का भी प्रयोग हुआ है।

ठाकुर - देवताओं की कोटि में एक प्रकार के देवता। ठाकुर मध्यकाल में सामंत को कहा जाता था।

सीधा सामग्री - सिद्ध भोजन (आग पर पकाने योग्य) चावल आदि। इस तरह का दान देने का प्रचलन उत्तर भारत में है।

मालवर - समृद्ध

मोयनदार - मोमदार (घी में तर)

कचाका - खस्ता (मुलायम)

चभाका - जिसे ज्यादा चबाना नहीं पड़े।

चभाचभ - रस में डूबा हुआ।

मरसा - एक बरसाती साग।

फूट - श्लिष्ट शब्द फूट - एक फल (खरबूजे जैसा होता है)

बैर - श्लिष्ट शब्द, बैर एक फल और (एक भाव) भी

लक-लक - दुबला-पतला

बुंबुक - हष्ट-पुष्ट

पचलोना - पाँच प्रकार के नमक का प्रयोग होता है।

दाँत सभी का खट्टा - मुहावरे का प्रयोग

अमले - कारिन्दे

अकिल अजीरन - बुद्धि का असाध्य रोग।

कै वाला - कुँवारा

जातवाला ब्राह्मण का गीत - यह भारतेन्दु की सर्जनात्मक उपलब्धि है। जातिवाद पर व्यंग्य के लिए यह काल्पनिक स्थिति रची गई है। यथार्थ जीवन में जात नहीं बिकती। व्यवस्था पर व्यंग्य के लिए इसे यहाँ रखा गया है।

चाल - रीति, परंपरा

सेत-सेत, श्वेत (सफेद)

बायस - कौआ

इन्द्रायन - एक लता जिसका फल कड़ुआ होता है।

दाड़िम - अनार

कनक वृष्टि - सोने की वर्षा अर्थात् अधिक धन (मुहावरे का सार्थक प्रयोग)

तीसरे अंक के दोदोहे लोक अनुभव से निकले हैं। यह अनुभव परंपरा का सारभूत अंश है जिसमें गलत और सही की पहचान आवश्यक है।

बरंच - बल्कि

बाजे-बाजे - किसी-किसी

आशना - परिचित (अरबी शब्द)

सरबमुहर - तुरंत

पनही - जूता

सादे - निर्मल

प्यादा - नौकर

ब्रह्मज्ञान विस्तारा - अद्वैत भाव का विस्तार हो । व्यंग्य का बड़ा सटीक प्रयोग है।

चाभना - छककर खाना।

हुक्मी बंदे - हुक्म बजाने वाले।

जमा - कोष, खजाना

सिर कहीं न घहराय - सिर पर न आ पड़े।

आछत - जीवित रहते

आपहिं - स्वयं

नसै - नष्ट होते हैं।

व्याख्या के लिए अंश

1) चना खावें तौकी, मैना।
 बोलें अच्छ बना चबैना॥
 चना खायें गफूरन, मुन्नी।
 बोलें और नहीं कुछ सुन्ना॥
 चना खाते सब बंगाली।
 जिनकी धोती ढीली-ढाली॥
 चना खाते मियाँ जुलाहे।
 डाढ़ी हिलती गाह बगाहे॥
 चना हाकिम सब जो खाते।
 सब पर दूना टिकस लगाते॥
 चने जोर गरम-टके सेर।

2) चूरन सभी महाजन खाते।
 जिससे जमा हजम कर जाते॥
 चूरन खाते लाला लोग।
 जिसकी अकिल अजीरन रोग॥
 चूरन खावें एडिटर जात।
 जिनके पेट पचै नहीं बात॥
 चूरन साहेब लोग जो खाता।
 सारा हिंद हजम कर जाता॥
 चूरन पुलिस वाले खाते।
 सब कानून हजम कर जाते॥

3) जाते लें जात, टके सेर जात। एक टका दो, हम अभी अपनी जात बेचते हैं। टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जाएँ और धोबी को ब्राह्मण कर दें, टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दें। टके के वास्ते झूठ को सच करें। टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके के वास्ते हिंदू से क्रिस्तान। टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनों बेचें, टके के वास्ते झूठी गवाही दें। टके के वास्ते पाप को पुण्य मानें, टके के वास्ते नीचे को भी पितामह बनावें। वेद धर्म कुल-मरजादा सचाई-बड़ाई सब टके सेर।

4) सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास।
 ऐसे देस कुदेस में, कबहुँ न कीजै बास॥
 कोकिल बायस एक सम, पंडित मूरख एक।
 इन्द्रायन दाड़िम विषय, जहाँ न नेकु विवेक॥

बसिए ऐसे देस नहिं, कनक-वृष्टि जो होय।
रहिए तो दुख पाइए, प्राण दीजिए रोय॥

- 5) साँच कहें ते पनही खावें।
झूठे बहु विधि पदवी पावें॥
छलियन के एका के आगे।
लाख कहौ एकहु नहिं लागे॥
भीतर होइ मलिन की कारो।
चहिए बाहर रँग चटकारो॥
धर्म अधर्म एक दरसाई।
राजा करे सो न्याव सदाई॥
भीतर स्वाहा बाहर सादे।
राज करहि अगले अरु प्यादे॥
अंधाधुंध मच्यौ सब देसा।
मानहुँ राजा रहत विदेसा॥
गो द्विज श्रुति आदर नहिं होई।
मानहुँ नृपति विधर्मी कोई॥

व्याख्या : सेत-सेत सब प्राण दीजिए रोय। (पृष्ठ 72)

व्याख्या के लिए कुछ निर्देश

भारतेंदु हरिश्चंद्र हिंदी नवजागरण की पहली पीढ़ी के रचनाकार हैं। उनकी रचनात्मक चेतना परंपरा से जितना रस लेती है, उतना ही आधुनिक संवेदना से भी। अंधेर नगरी भारतेंदु के श्रेष्ठ व्यंग्य नाटकों में से एक है। अंधेर नगरी अपने नाम से ही सर्जनात्मक और व्यंग्य प्रेरित है। एक लोककथा को आधार बनाकर हरिश्चंद्र ने अपने समय, समाज और सम्यता का चित्रण किया है। सत्ता का महत्व कितना व्यापक है कि उसमें विकृति आने का मतलब समूचे मूल्यों में अराजकता और बिखराव आना। सत्ता अपने शब्द और स्थान में जितनी सीमित है प्रभाव में उतनी ही व्यापक और असीमित होती है।

प्रस्तुत अंश अंधेर नगरी के तीसरे दृश्य से चुना गया है। महंत जी अपने शिष्य गोबरधनदास को लोक विश्वास के माध्यम से समझाने की कोशिश कर रहे हैं। लोक अनुभव में संस्कृति का सारभूत अंश होता है।

दृष्टांत शैली में तीन बिंबों के माध्यम से महंत जी उपदेश के सार को रखते हैं। पहला बिंब सुगंध का है दूसरा श्रवण का और तीसरा स्वाद का। श्वेत रंग कपूर का भी है और कपास का भी दोनों ही ज्वलनशील है परंतु अंतर सुगंध का है। एक में सुगंध होती है और दूसरे में नहीं। यह सुगंध पदार्थ का आंतरिक गुण है। पहचान आंतरिक गुण के आधार पर होनी चाहिए क्योंकि वह व्यक्तित्व के बनावट में अदृश्य रूप में व्याप्त है। बाहरी आकार तो ढाँचा मात्र है, एक चित्र है। पहचान चित्र नहीं चरित्र के अनुसार होनी चाहिए। जहाँ चरित्र के अनुसार, उसके व्यक्तित्व के आधार पर पहचान नहीं होगी वहाँ मूल्यहीनता और अराजकता का संकट पैदा होगा। बिंब-प्रतिबिंब भाव से दृष्टांत को पुष्ट किया गया है। जहाँ मूल्यहीन अराजक व्यवस्था हो वहाँ कभी निवास नहीं करना चाहिए।

कौआ और कोकिल अपने वचन के लिए लोक प्रसिद्ध हैं। कौए की आवाज कर्कश होती है कोकिल अपनी आवाज की कोमलता के लिए प्रसिद्ध है। सुनने में अंतर हो जाता है। जो मीठा होगा सहज ग्राह्य होगा यह मानव की प्रवृत्ति है। अपनी प्रवृत्ति के खिलाफ यदि मनुष्य जाने लगे तो वह भी चिंतनीय है। जिस देश में पंडित और मूर्ख, कोकिल और कौए को एक ही तुला पर तौला जाए वहाँ घोर अंधेरा मचता है।

तीसरा बिंब स्वाद का है। अनार और इन्द्रायन स्वभाव में एक दूसरे के विपरीत है। यदि उसे एक मान लिया जाय तो किस प्रकार से हमारे बुद्धि और विवेक के दिवालियापन का साक्ष्य प्रस्तुत करेगा। इस प्रकार सुगंध, श्रवण और स्वाद के माध्यम से जो उपदेश दिया गया है, वह मनुष्य की निश्चयात्मक बुद्धि के द्वारा ही पहचाना जा सकता है। इनके रूप और गुण की पहचान लोक के द्वारा की गई है।

उसी आधार पर निर्णय दिया गया है। इसमें किसी एक व्यक्ति का अनुभव नहीं होता है, क्योंकि मनुष्य अपने अनुभव में अकेला हो सकता है परंतु जहाँ लोक समूह का विश्वास होता है, वहाँ उनका साझा अनुभव बोलता है।

ऐसे देश में बसने की सलाह नहीं दी गई है, जहाँ धन की बारिश हो। जहाँ धन की वर्षा होगी वहाँ समाज में दो प्रकार के लोग होंगे एक के पास अकूत संपदा होगी और दूसरा दरिद्र होगा। वहाँ यदि सभी दरिद्र हों तो भी दुःख नहीं होगा। जहाँ दरिद्र और समृद्ध के बीच अंतर होगा वहाँ दुःख की सृष्टि होगी। समृद्ध बनने के प्रयत्न में प्राणपन से लगना होगा, बिलकुल आज के समाज की तरह।

भारतेंदु का जो समाज था वह मूल्यहीन हो चुका था। हमारी सभ्यता के पुराने मूल्य ढह चुके थे, नये मूल्य उस तेजी से बने नहीं थे। ऐसी स्थिति में साहित्य और समाज को देखने का कोई निश्चित प्रतिमान नहीं था। रचनाकार का दायित्व इसी नये प्रतिमान को जानने और समझने की ओर है। आज जब हम एकबार फिर मूल्यहीन दौर से गुजर रहे हैं तब यह विश्वास कितना प्रासंगिक हो उठता है।

विशेष : दृष्टांत शैली का सुंदर प्रयोग है।

भाषा अवधी है परंतु उस पर बनारसी रंग चढ़ा हुआ है।

दोहा छंद का प्रयोग है।

गीतात्मक संवेदना से भरपूर है।

यह दोहा लोक विश्वास की मौखिक परंपरा से संबद्ध है।

जीवन और अनुभव को साथ-साथ देखने की चेष्टा की गई है।

इन विभिन्न बिंदुओं पर विचार कर सकते हैं।

संदर्भ पुस्तकें

हिंदी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वारीणसी।

भारतेंदु हरिश्चंद्र : डॉ. राम विलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

नाटककार भारतेंदु की रंग परिकल्पना : डॉ. सत्येन्द्र तनेजा, सन्नमार्ग प्रकाशन, दिल्ली।

भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ : डॉ. रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

भारतेंदु हरिश्चंद्र : मदन गोपाल, साहित्य अकादमी प्रकाशन, नई दिल्ली।

अंधेर नगरी : भारतेंदु हरिश्चंद्र, राजकमल प्रकाशन प्रा.लिमिटेड, 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002

परिशिष्ट - 2 : जयशंकर प्रसाद और 'स्कंदगुप्त'

जीवन परिचय

जयशंकर प्रसाद के व्यक्तित्व को समझने और उनके रचना और रचनाकार के मर्म तक पहुंचने के लिए उनके जीवन को जानना आवश्यक है। प्रसाद के साहित्य में जो महाकाव्यात्मकता का स्पर्श मिलता है, वह एक विराट फलक पर जीये गये जीवन द्वारा ही संभव है। उनके पूरे जीवन को रख पाना तो संभव नहीं है, परंतु उसके कुछ पहलुओं को अवश्य रखा जा सकता है।

जयशंकर प्रसाद का जन्म 30 जनवरी 1890 ई. में बनारस के एक सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ था। यह परिवार अपने विद्या प्रेम और दानवीरता के लिए विख्यात था, अतः विद्वानों, कवियों, संगीतज्ञों, पहलवानों, वैद्यों और ज्योतिषियों का वहाँ रोज ही जमघट लगा रहता था। मानव वैविध्य और चरित्रों की बारीकी समझने के लिए मानो विपुल अवसर था। किशोरावस्था तक उनका लालन-पालन सामंती वातावरण में हुआ। 11 वर्ष की आयु में पिता की असामयिक मृत्यु से जो आघात लगने शुरू हुए उनसे वे जीवन भर मुक्त न हो सके। 14 वर्ष की आयु में उनकी माता की मृत्यु हो गई। अब परिवार का सारा दायित्व उनके बड़े भाई शंभुदत्त के कंधे पर आ पड़ा। परंतु 1906 ई. में शंभुदत्त के अचानक देहावसान ने किशोर जयशंकर को सचमुच तोड़ कर दिया। 16 वर्ष की उम्र में वे अपने परिवार के कई सदस्यों की मृत्यु देख चुके थे।

जयशंकर प्रसाद पर समस्याओं का बोझ टूट पड़ा। उनका परिवार आर्थिक दृष्टि से पूरी तरह जर्जर हो चुका था। एक संस्कारी परिवार के लुप्त गौरव की रक्षा और पुनरुद्धार की चुनौती मुँह बाये खड़ी थी। और उस पर अंतहीन मुकदमेबाजी, और भारी कर्ज का बोझ भी उन्हें वहन करना पड़ रहा था। गृह कलह से प्रसाद का इतना नजदीकी वास्ता रहा कि उन्होंने अपने सभी नाटकों और उपन्यासों में इसके यथार्थ का भावपूर्ण चित्र निपुणता से खींचा है। 19 वर्ष की अवस्था (यानी 1909) में प्रसाद का पहला विवाह विंध्यवासिनी देवी के साथ हुआ। 10 वर्ष दांपत्य जीवन बिताने के उपरांत 1919 में विंध्यवासिनी देवी का निधन हो गया। प्रसाद का दूसरा विवाह 1920 में सरस्वती देवी के साथ हुआ। अगले वर्ष प्रसूति काल में पुत्र जन्म के अवसर पर माँ-बेटा दोनों चल बसे। इस प्रकार परिवार में मृत्यु के आघात को सहते हुए उनमें एक प्रकार का विराग का भाव आ गया था। अब वे दांपत्य जीवन में पड़ना नहीं चाहते थे। लेकिन भाभी के अनुरोध पर 35 वर्ष की अवस्था में कमला देवी से उनका विवाह हुआ। उन्हीं से एक मात्र संतान रत्नशंकर का जन्म हुआ।

भारतेंदु की तरह उन्होंने यात्राएं भी बहुत की थीं। 1919 में गया की यात्रा और 1921 में पुरी की यात्रा का उन पर गहरा असर पड़ा। जब वे रचनात्मक शिखर पर थे और उनकी आयु सैंतालीस वर्ष की थी, तब वे तपेदिक के घातक रोग से पीड़ित हो गए। डाक्टरों की सलाह पर इलाज के लिए सेनेटोरियम जाने की बजाय वहीं अपनी प्रिय काशी में ही प्राण त्यागने का निश्चय किया। 14 नवंबर 1937 को काशी में ही उनका देहावसान हो गया।

जयशंकर प्रसाद की पढ़ाई-लिखाई गोवर्धन सराय की पाठशाला में शुरू हुई थी। इस पाठशाला के संचालक मोहिनीलाल गुप्त थे। वे ब्रजभाषा के रस सिद्ध कवि थे। 2-3 वर्षों तक प्रसाद की शिक्षा वहीं कॉलेज में हुई थी परंतु 1901 ई. में पिता की मृत्यु और व्यवसाय की भारी जिम्मेदारी के कारण उनके अध्ययन की व्यवस्था घर में ही की गई। उन्हें संस्कृत, उर्दू, बंगला और अंग्रेजी का यथेष्ट ज्ञान था। इतिहास और पुरातत्व उनके अध्ययन के प्रिय विषय थे।

जीवन के त्रासद अनुभवों के बावजूद, उसके प्रति उनकी दृष्टि नकारात्मक नहीं थी। जीवन के रस और रंग का आस्वाद उन्होंने पूर्ण मनोयोग से ग्रहण किया था। फुलवाड़ी, व्यायाम, शतरंज, अश्वारोहण, नौकाविहार आदि में उनकी गहरी दिलचस्पी थी। गुलाब, जूही, चमेली, रंजनीगंधा जैसे फूलों से उनको विशेष प्रेम था। शास्त्रीय संगीत बड़ी तन्मयता से सुनते थे। इस प्रकार उनकी अभिरुचियों से पता चलता है कि उनमें रोमांटिक अनुभूति के साथ क्लासिकल अभिजात संस्कार भी था। उनके जीवन से उभरता चित्र सीधा और स्पष्ट नहीं है। उनमें बहुत से अन्तर्विरोधी बातें भी हैं। गृहस्थ, व्यवसाय और साहित्य की त्रिधारा उनके अन्तर्जगत को पर्याप्त आलोकित करती रही। मुक्तिबोध के शब्दों में 'इतनी भटकन, इतना व्यापक पर्यटन, इतनी विस्तृत, विविध, और प्रदीर्घ यात्रा हिंदी में किसी और लेखक ने

नहीं की।' प्रेमचंद ने 'हंस' के आत्मकथांक के लिए प्रसाद से कुछ सामग्री चाही थी। प्रसाद ने 'मधुप गुनगुनाकर कह जाता' कविता भेज दी। प्रसाद अपने स्वभाव से अंतर्मुखी थे और अपने अंतरंग में बेहद एकाकी भी थे। उनसे मिलने वालों की संख्या बड़ी थी पर कोई उनका मित्र नहीं था। उनके जीवन को उन्हीं के शब्दों में कहे तो कह सकते हैं :

'छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथाएं आज कहूँ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ?
सुनकर भी तुम भला करोगे - मेरी भोली आत्मकथा?
अभी समय भी नहीं-थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।'

साहित्यिक योगदान : हिंदी साहित्य में छायावाद का दौर उसी समय आया जब गाँधी ने देश में राजनीति की बागडोर संभाली। गाँधी के साथ ही हम पहली बार भारतीय चेतना के आधुनिक चरण में प्रवेश करते हैं। गांधी सच्चे आधुनिक की तरह एक साथ दो स्तरों पर भारतीय और यूरोपीय संस्कृतियों का आत्मालोचन कर रहे थे। किसी एक संस्कृति का पक्षधर होकर नहीं। बल्कि यह सबक सिखाते हुए कि अपनी परंपरा में रहते हुए कैसे अपनी संस्कृति, समाज और धर्म व्यवस्था की आलोचना की जा सकती है। इसका पूरा असर प्रसाद के साहित्य कर्म पर है। दूसरी ओर देश के पूर्वी क्षितिज पर रवींद्रनाथ ठाकुर का उदय हो चुका था। उनकी रहस्यात्मक और आध्यात्मिक कविता का दबाव पूरे छायावाद पर है। विश्वस्तर पर जहाँ एक ओर रूस में बोलशेविक क्रांति हो चुकी थी वहीं यूरोप के दूसरे छोर पर स्पेंगलर की 'पश्चिम का पतन' और टी.एस. इलियट का 'वेस्टर्लैंड' भी सामने आ चुका था। इन परिस्थितियों के बीच ही प्रसाद का साहित्य रचा गया था।

प्रसाद का रचनात्मक विकास तीन स्पष्ट चरणों में देखा जा सकता है। प्रसाद के प्रथम दौर की रचनाओं में **कानन कुसुम** (1912), **महाराणा का महत्व** (1914), **चित्रधार** (1918) और **प्रेम पथिक** जैसी काव्य कृतियाँ सामने आईं। प्रसाद ने इस दौर में कुछ नाटक भी लिखे जो इस प्रकार हैं : **कल्याणी परिणय** (1912) तथा **करुणालय** (1913)। उनके रचनात्मक विकास का दूसरा दौर 1918 में **झरना** के प्रकाशन के साथ शुरू होता है जिसमें कवि का रंग और तेवर बदला हुआ है। नाटक में क्षेत्र में प्रसाद का प्रौढ़काल शुरू हो चुका था **विशाख** (1921), **अजात शत्रु** (1922), **जलमेजस कर नागयज्ञ** (1926), । 1926 से 1937 उनकी रचनात्मक समृद्धि का शिखर काल है। इस दौर में उन्होंने **ऑसू** (1926) की रचना की, और 1935 में **लहर** की रचना की। 1937 **कामायनी** का प्रकाशन काल है। उनके श्रेष्ठ नाटक **स्कंदगुप्त** की रचना का वर्ष 1928 है, **चंद्रगुप्त** 1931 की रचना है और **ध्रुवस्वामिनी** 1933 की रचना है। **कामना** 1927 और **एक घूंट** 1930 के नाटक हैं। इसके साथ ही उन्होंने अनेक कहानियों और **कंकाल** और **तितली** जैसे उपन्यासों की रचना की।

प्रसाद प्रारंभ में ब्रज भाषा में कविता करते थे। उन्होंने जब लिखना शुरू किया था, वह भाषा की दृष्टि से खड़ी बोली का अपने पाँव पर खड़े होने का काल था। प्रसाद ने खड़ी बोली की पगडंडी को राजमार्ग में बदल दिया। विषयवस्तु की दृष्टि से उनके जीवनव्यापी सरोकारों का कुछ अनुमान उनकी रचनाओं से हो सकता है। प्रेम, प्रकृति पुराण-इतिहास और मानवीय मनोविज्ञान से उनका लगाव शुरू से ही दिखायी पड़ता है।

'चित्रधार' की पहली कविता में उजड़ी अयोध्या के कथा रूपक के जरिए देश की वर्तमान दुरवस्था को दिखाने और भविष्य के लिए आशा संकेत पाने की अभिलाषा व्यक्त हुई है। 'चित्रधार' के बाद आधुनिक खड़ी बोली में कवि का पहला काव्य संग्रह **प्रेम पथिक** नाम से छपा। इसमें प्रेमानुभूति के विकास क्रम का दो स्तरों पर संधान किया गया है। एक तो आत्मान्वेषण के साधन के रूप में और दूसरे व्यक्तिगत आत्म को अतिक्रान्त करके विश्व प्रेम और विश्व करुणा की निर्वैयक्तिक मुक्ति की साधना के रूप में। **झरना** प्रसाद की पहली छायावादी रचना मानी जा सकती है। **ऑसू** अभिव्यंजना की प्रौढ़ता और विचित्रता के भीतर प्रेमवेदना की दिव्य विभूति का, विश्व में मंगलमय प्रभाव का, सुख और दुःख दोनों को अपनाने की अपार शक्ति का और उसकी छाया में सौन्दर्य और मंगल के संगम का आभास पाया जाता है। **लहर** में कवि का अभिप्राय जीवन की सुख दुःखात्मक अनुभूति से अपने को सरस करने का है। प्रसाद इतिहास, दर्शन और संस्कृति को **कामायनी** की प्रबंध योजना में समन्वित करके देखने का प्रयास करते हैं। **कामायनी** मानव के बाह्य और अंतरिक विकास की काव्यात्मक कथा है जो अंत में

समरसतावादी दर्शन में अपना समाधान ढूँढ़ती है। इसमें प्रकृति, प्रेम और मानव के बीच संतुलन कायम करने के लिए कवि प्रेरित है। **कामायनी** में बुद्धिवादी सभ्यता का दुःस्वप्न प्रस्तुत किया गया है।

प्रसाद के पद्य में यदि आदर्श का प्रभाव है तो गद्य में यथार्थ का। **कंकाल** उपन्यास में सामाजिक संस्थाओं की सङ्घर्ष का निर्मम चित्र उपस्थित है। तितली में ग्रामोत्थान का महत्व रेखांकित किया गया है। प्रसाद में नाटकीय संवेदना की विलक्षणता है। उनके नाटक अपने रूमानी तथा रहस्यात्मक वातावरण के बावजूद गहरे मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की नींव पर खड़े हैं। प्रसाद के नाटकों में भारतीय इतिहास का जो पुनरुत्थान व्यक्त हुआ है, इतिहास के साथ जिस काव्यात्मकता और दार्शनिकता का योग हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। प्रसाद के नाटक प्राचीनता सामयिकता की प्रतिक्रिया के रूप में लिखे गये हैं। उनके समस्त नाटक देश प्रेम की भावना लेकर चलते हैं।

स्कंदगुप्त के बारे में : 'स्कंदगुप्त' प्रसाद की श्रेष्ठ नाट्य कृति है। इस नाटक का रचना काल 1928 ई० है। इसमें व्यक्ति की त्रासदी को प्रस्तुत किया गया है। राष्ट्र के हित में महत् उद्देश्य के लिए व्यक्ति की निजी आकांक्षा का बलिदान हो जाता है। औपनिवेशिक मानसिकता और उसकी दासता से मुक्ति का स्वप्न प्रसाद के युग की रचनात्मक जरूरत है। यह अलग बात है कि ये सीधे-सीधे नहीं आकर इतिहास के आवरण में व्यक्त हुए हैं। **स्कंदगुप्त** नाटक में व्यक्ति **स्कंदगुप्त** और राष्ट्र नायक **स्कंदगुप्त** इन दोनों के बीच का द्वंद्व और उससे उत्पन्न संवेदना केंद्र में है। व्यक्ति के निजी स्वप्न और सामूहिक उत्तरदायित्व के बीच किस प्रकार की त्रासदी उत्पन्न होती है उसका जीवंत चित्र यहाँ उपस्थित है।

नाटक का महत्व : प्रसाद ने अपनी इस संवेदनशील कृति **स्कंदगुप्त** में संपूर्ण दृष्टि को स्पर्श करने का सार्थक प्रयास किया है। कथा में युग जीवन की विराट अभिव्यक्ति है जो कई स्तरों पर और कई दिशाओं को स्पर्श करती है। चरित्र का एक राष्ट्रीय संदर्भ है, दूसरा वैयक्तिक संदर्भ है। पारिवारिक षड्यंत्र, मजहबी दंगे और युद्ध जैसे कई प्रश्नों को एक साथ समेटने से इसमें नाट्य संरचना की दृष्टि से कुछ कमजोरी आ गई है। इस नाटक में राष्ट्रीय चेतना के सम्मुख व्यक्ति **स्कंदगुप्त** हमेशा एक चुनौती की तरह सामने आता है। इसी से स्कंदगुप्त हमारा समकालीन हो जाता है। **स्कंदगुप्त** का हाहाकर और अकेलापन किसी ट्रैजिक नायक से कम नहीं। डॉ. रमेशचंद्र शाह के शब्दों में 'नाटक के अंत में नायक **स्कंदगुप्त** एक भग्न हृदय अकेला प्राणी है, सच पूछा जाय तो ट्रेजेडी से भी ज्यादा है, ट्रैजिक है इस नाटक का मर्म।' इतिहास की स्थितियाँ जीवन में कितना उद्देग उत्पन्न कर सकती हैं इसका श्रेष्ठ उदाहरण **स्कंदगुप्त** नाटक है। **स्कंदगुप्त** नाटक रंगमंच की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। प्रसाद एक नये भारतीय रंगमंच की तालाश करते हैं जिसमें कई प्रकार के रंगमंच का समायोजन है। तीन बड़े निर्देशकों यथा शांता गांधी, रामगोपाल बजाज और ब.व. कारंत द्वारा इस नाटक का मंचित होना भी इसकी प्रासंगिकता का बड़ा परिणाम है।

अंतर्वस्तु : **स्कंदगुप्त** नाटक में 5 अंक और 33 दृश्य हैं। प्रथम अंक में विघटनशील तत्वों द्वारा केन्द्रीय शक्ति को दुर्बल बनाने का प्रयास है। गृह कलह और राष्ट्रीय संकट दोनों का चित्र एक साथ खींचा गया है। द्वितीय अंक में प्रेम का प्रस्फुटन और षड्यंत्रों से भरा पड़ा है। तृतीय अंक में पारिवारिक षड्यंत्र और देश विरोधी शक्तियों को साथ-साथ देखते हैं। चतुर्थ अंक में देश के बिखराव की स्थिति है और साथ ही प्रेरक शक्तियों को संगठित किया जा रहा है। पंचम अंक में विध्वंसात्मक शक्तियों की पराजय और देशभक्त शक्तियों की विजय है। नाटक के अंत में प्रलय पथ पर चलती हुई देवसेना और हतभाग्य अकेला स्कंद आमने-सामने हैं, तब करुणा से अप्लावित पाठक और प्रेक्षक हाहाकर कर उठता है। स्वयं **स्कंदगुप्त** और देवसेना जैसे आदर्श चरित्रों का जो दृष्टिकोण नाटक के अंत में बनता है, वह प्रखर चुनौती और अदम्य जिजीविषा का नहीं अपितु उसमें करुणा और विराग है।

भाषा-शैली : **स्कंदगुप्त** नाटक में कई शैलियों का सम्मिश्रण मिलता है। उसमें भारतीय आदर्शवादी सुखान्त नाटकों और पश्चिमी लौकिक यथार्थ तथा मनोविज्ञान के सहारे रचे गए दुखान्त नाटकों को प्रसाद की प्रतिभा ने मिश्रित कर दिया है। वहीं दूसरी ओर **स्कंदगुप्त** के स्थापत्य से जो संरचना निकलती है, उसमें संस्कृत नाटक की शास्त्रीय और पारसी थियेटर की लोकप्रिय शैलियों का भी मेल है। प्रसाद ने संस्कृत गर्भित भाषा को ही अपना माध्यम बनाया है। कहीं-कहीं ठोस संस्कृत बहुला शब्दों के कारण भाषा रंगमंच के लिए अनुचित हो गयी अथवा चुनौती बन गयी है। प्रसाद की भाषा काव्य और संवेदना से निकलती भाषा है जो अपने अर्थों की व्यंजना से रंगप्रक्रिया को गहराई देती है। शब्द

की प्रकृति के पारखी होने के कारण प्रसाद भाव मैत्री के अनुरूप एक रमणीय प्रवाह उत्पन्न करने में सफल रहे हैं। निष्कर्षतः प्रसाद की भाषा नये नाट्यानुभव में ढल कर आती है। उनके संवाद, भाषा और शैली को सूक्ष्मता से परखने की आवश्यकता है।

'स्कंदगुप्त' नाटक को कैसे पढ़ा जाए?

नाटक विद्या को ध्यान में रखते हुए, किसी भी नाटक को मंचन के अनिवार्य परिप्रेक्ष्य में देखना आवश्यक है। साथ ही, प्रत्येक नाटक की कुछ निजी विशिष्टता भी होती है उस पर भी ध्यान देना चाहिए। प्रसाद के नाटक आज भी रंगमंचीयता, भावबोध, जीवन दर्शन तथा संदेश आकलन की माँग करते हैं। रंगमंच तथा अभिनय की दृष्टि से उसमें अन्तर्निहित आवेगों, तथा उनके नाटकीय संयोजन की क्षमता को थोड़ा गंभीरता से परखना चाहिए। प्रसाद के नाटक में ऐसी आवेगपूर्ण उक्तियों के और गंभीर नाटकीय संवादों को अभिनेयता की प्रभावव्यंजकता में देखें। **स्कंदगुप्त** के स्वालाप (मोनोलाग) में भी अर्थ व्यंजना ध्यान देने योग्य है। प्रसाद ने निस्संदेह गुप्तकाल की पृष्ठभूमि को अपनाया है लेकिन उनके पात्र गुप्तकालीन नहीं हैं। वे बीसवीं सदी के मानव हैं। पात्र जिस मनोवैज्ञानिक यथार्थ का प्रतिनिधित्व करते हैं, उस मनोवैज्ञानिक यथार्थ का परीक्षण भी आवश्यक है।

प्रसाद में जीवन को विशिष्टता में देखने की शक्ति है। उनमें इतिहास, दर्शन और संस्कृति की त्रिवेणी है। पात्र भी इसी के प्रतिरूप बनकर आये हैं। इतिहास को प्रसाद में ढूँढ़ने का अर्थ यह कदापि नहीं लेना चाहिए कि गुप्तकालीन इतिहास से उसकी तुलना करें। जीवन की परिस्थिति और सामाजिक परिस्थिति के द्वंद्व के पीछे सक्रिय ऐतिहासिक शक्तियों को खुले मन से देखने की कोशिश करनी चाहिए। बौद्ध दर्शन और ब्राह्मण दर्शन की टकराहट के बीच से ही प्रसाद की अपनी जीवन-दृष्टि विकसित हुई है। क्या पुनरुत्थानवाद को भावना से अलग उनका दृष्टिकोण विकसित होता नज़र आता है? आज के संदर्भ में इसकी प्रासंगिकता पर भी विचार किया जाना चाहिए। वे भारतीय संस्कृति के पक्षधर थे। यह संस्कृति विभिन्न संस्कृतियों के बीच संघर्ष और सामंजस्य से निर्मित हुई है। उन्होंने औपनिवेशिक दासता की खुलकर आलोचना की। हूण औपनिवेशिक सत्ता के खिलाफ **स्कंदगुप्त** लगातार लड़ता है। यह उभरते राष्ट्रवाद के प्रभाव को दर्शाता है।

नाटक के पात्रों में जहाँ सामाजिक पक्ष की प्रबलता है और राष्ट्र के लिए बलिदान हो जाने की आकांक्षा है, वहीं उनके वैयक्तिक पक्षों का चित्रण भी किया गया है। सामाजिक पक्ष के साथ इन वैयक्तिक पक्षों को नज़र अंदाज नहीं करना चाहिए। प्रेम प्रसंग प्रसाद साहित्य की एक विशिष्ट पहचान है। उसे वे न जाने कितने दृष्टिकोण से देखते हैं। यहाँ उसका भोग और त्याग के साथ संघर्ष दिखाया गया है और त्याग की प्रतिष्ठा करते हैं। महत की स्थापना में प्रसाद क्या कुछ सहज मानवीय गुणों की उपेक्षा कर देते हैं? इस पक्ष पर भी ध्यान देना चाहिए।

प्रसाद के नाटकों का शैली की दृष्टि से विश्लेषण अनिवार्य हो जाता है। उसमें कहीं क्लासिकल रंगमुक्त नाट्य भाषा और काव्यात्मकता और कहीं पारसी थियेटर की उक्तियों का प्रयोग किया गया है। प्रसाद के नाटक में काव्य और गद्य का अद्भुत सामंजस्य है। उनके गीत नाटकीय क्रिया व्यापार को अधिक आवेगशील बनाकर उनकी संप्रेषण क्षमता को बढ़ाते हैं या कम करते हैं इसका परीक्षण भी जरूरी है। प्रसाद को अपने रचनात्मक भावबोध से प्राप्त हुई भाषा में जो बिंब उन्होंने रखे हैं उसे यदि स्पष्ट नहीं करेंगे तो संवाद समझ में नहीं आ सकते। उनके बिंब में ज्ञान और संवेदन दोनों हैं। वे श्रव्य और दृश्य के माध्यम से अर्थ के अनेक स्तरों को व्यजित करते हैं। प्रसाद की भाषा में शब्दों को सूक्तियों की तरह व्यक्त करने की सामर्थ्य है। उसमें दार्शनिकता और व्यावहारिक जीवन का मर्म एक साथ देख सकते हैं। इस पर ठहर कर सोचने की आवश्यकता है।

शब्दावली

नियामक - नियंत्रण रखने वाला

स्पृहा - इच्छा, कामना

नासीर - सेना का अग्रभाग

क्षात्रधर्म - क्षात्रधर्म का अभिधार्थ क्षत्रियोचित धर्म से है। परन्तु इसका व्यंजनात्मक अर्थ लोकमंगल की भावना है।

महाबलाधिकृत - गुप्तकाल में प्रधान सेनापति के लिए प्रयुक्त शब्द।

प्रकृतिस्थ - अपनी स्वाभाविक अवस्था में होना।

परमभट्टारक - गुप्तकाल में राजा की उपाधि।
 नील कादम्बिनी - नीली घटा, बादलों से भरा आसमान।
 कपिश - सिंधु प्रदेश का भाग।
 हूण - गुप्तकाल में मध्य एशिया से आई एक जाति विशेष जो कालांतर में भारतीय जन जीवन में समाहित हो गई।
 चर - गण, दूत
 दक्षिणापथ - दक्षिण के राज्य
 मंत्रणा - एकांत में बातचीत
 तूणीर - बाण रखने की चीज
 स्कंधावार - सैनिक छावनी
 महसंधिविग्रहक - संधि मंत्री। आजकल के विदेश मंत्री जैसा। गुप्तकालीन विदेश मंत्री।
 सौराष्ट्र - गुजरात का क्षेत्र विशेष।
 सर्वस्वान्त - संपूर्ण रूप में अंतिम।
 अपानक - हिजड़े
 उत्कण्ठा - जिज्ञासा
 दुराशा - ऐसी आशा जो पूरी नहीं होने वाली हो।
 भ्रूभंग - भौंह टेढ़ी करना।
 इंद्रजाल - तिलिस्म।
 श्रमण - बौद्ध भिक्षुक
 उत्क्षेपण - काल की वह गति या अवस्था जिसमें रूप, रंग गंध, स्पर्श, की क्रम से वृद्धि होती है।
 विचक्षण - तेजस्वी
 विद्वप - कटाक्ष
 शूल - बरछे के आकार का अस्त्र।
 पारसीक मदिरा - फारस देश की शराब।
 कालागुरु - सुगंधित लकड़ी का पेड़।
 सौध - भवन
 चिरायंध - दुर्गंध जो चमड़े, मांस, आदि के जलने से फैलती है।
 सूची - सुई।
 अभिचार - आकर्षित करना।
 सद्धर्म - अच्छा य उत्तम धर्म। यहाँ बौद्ध धर्म की ओर संकेत है।
 तारा का ताण्डव - वज्रयानी तांत्रिक साधना की देवी का उल्लासपूर्ण नाच।
 महानरमेध - मनुष्यों की बड़ी संख्या में हत्या।
 उल्कापात - तारों का टूटना।
 प्रतिश्रुत - वचनबद्ध होना
 खड्गलता - तलवार की लता
 गुल्म - गुप्तकालीन सैनिकों का समूह।
 योजन - दूरी की इकाई
 सूच्यग्र-भाग - सुई की नोक का आगे वाला भाग
 वीर-पुंगव - वीरो में श्रेष्ठ
 दुर्ग - किला
 वाचालता - अधिक बोलने वाला
 रुद्र - शिव का रौद्र रूप
 बलिहारी - अर्पण
 वरणीय - वरण करने योग्य
 शतदल - कमल
 वागीश्वरी - सरस्वती
 आतप - ग्रीष्म कालीन सूर्य का ताप
 प्रवंचना - धूर्तता
 कादम्ब - शराब।
 कामिनी - सुकुमार स्त्री।
 दुर्वृत्तमद्यप - दुराचारी शराबी

विपद भंजन - विपत्ति को हरने वाला

विश्वम्भर - पृथ्वी

दधीचि - भारतीय पुराणों में उल्लिखित एक ऋषि जिन्होंने देवताओं की रक्षा के लिए वज्र बनाने हेतु अपना शरीर दान कर दिया था।

ताण्डव - शिव का प्रलयकारी नृत्य।

अन्तर्वेद विषयपति - राजनिवास का प्रधान प्रबंधक

अवतारणा - नकल करने से

लवलीन - तल्लीन

कृत्या - एक भयंकर राक्षसी जिसे तांत्रिक अपने अनुष्ठान से शत्रु को नष्ट करने के लिए सिद्ध करते हैं।

प्रज्ञापारमिता - ज्ञानस्वरूपा

शर्वरी - संध्या

तुषारकण - हिमकण

मीड़ - स्वप्न

कापालिक - तंत्र साधना का साधक

प्रतिष्ठान - पेशावर का प्राचीन नाम

तटी - नौका

झड़ - घटाटोप मेघ

मलेच्छ - विदेशी को कहा जाता था

विक्रमादित्य - चंद्रगुप्त द्वारा धारण की हुई उपाधि। जिसे बाद के सभी गुप्त राजाओं ने किसी महत्वपूर्ण विजय के उपरान्त धारण किया।

लौहित्य - ब्रह्मपुत्र नदी वाले प्रदेश जैसे असम।

नगरहार - प्राचीन भारत का एक नगर जो वर्तमान जलालाबाद के निकट बसा हुआ था।

प्रत्यावर्त्तन - लौट आना।

दावाग्नि - जंगल में लगने वाली आग।

वाड. सुतर - आक्सस नदी जो हिन्दूकुश पर्वत से निकल कर अरब सागर में गिरती है।

वांछा - आकांक्षा

ठीकर - मिट्टी का वर्तन

प्रतारणा - कष्ट

मलयानिल - मलय पर्वत से चलने वाली हवा।

छलना - माया

उनींदी - आँख खोलना

नंदनवन - इंद्र की वाटिका।

नीहार कणिका - कुहरा। पाला।

शेष पर्यकशायी - शेष नाग पर सोने वाला अर्थात्, विष्णु

उद्बोधन गीत - उत्थान गीत

महास्थविर - बौद्ध मठ का प्रधान भिक्षुक

चैत्य - जहाँ बरसात में बौद्ध भिक्षु ठहरते थे।

पोत - नौका

मध्यमा प्रतिपदा - बुद्ध के द्वारा चलाया हुआ मार्ग जिसमें अतिवाद का तिरस्कार किया गया है।

सप्त सिंधु - पंजाब से सिंध तक का प्रदेश।

पुष्कल स्वर्ण - अधिक सोना।

गो निष्क्रय - गो हत्या।

विवृत - खुला हुआ।

मुचकुंद - एक बड़ा पेड़ जिसमें सुगंधित फूल होते हैं।

संतरण - अच्छी तरह पार होना।

अभिसार - प्रिय से मिलने के लिए नायिका का संकेत स्थल पर जाना।

अदृष्ट - आकस्मिक विपत्ति।

आपद्धर्म - वह कर्तव्य या धर्म जिसका विधान केवल आपत्काल के लिए हो।

म्लान सौरभ - मुरझाई हुई गंध।

निरावलम्ब - जिसका सहारा न हो।

उत्कोच - रिश्वत
 विश्व नियता - विश्व को नियमित करने वाला, ईश्वर।
 तिरोहित - मिटना
 अरुण केतन - उज्ज्वल पताका
 पुरन्दर - इन्द्र
 पवि - वज्र
 गहन-विपिन - घना जंगल
 नीरवता - शांति
 देवव्रत - भीम
 अमरावती - इंद्रपुरी
 शची - इंद्र की पत्नी

व्याख्या के के लिए महत्पूर्ण उद्धरण

1. किसलिए? त्रस्त प्रजा की रक्षा के लिए, सतीत्व के सम्मान के लिए, देवता-ब्राह्मण और गौ की मर्यादा में वश्वास के लिए, आतंक से प्रकृति को आश्वासन देने के लिए - आपको अपने अधिकार का उपयोग करना होगा। युवराज! इसीलिए मैंने कहा था कि आप अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हैं, जिसकी मुझे बड़ी चिंता है। गुप्त-साम्राज्य के भावी शासक को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान नहीं।
 (प्रथम अंक, दृश्य : एक)
2. कविता करना अनंत पुण्य का फल है। इस दुराशा और अनंत उत्कंठा से कवि-जीवन व्यतीत करने की इच्छा हुई। संसार के समस्त अभावों को असंतोष कहकर हृदय को धोखा देता रहा। परंतु कैसी विडंबना! लक्ष्मी के लालों का भ्रू-भंग और क्षोभ की ज्वाला के अतिरिक्त मिला क्या! - एक काल्पनिक प्रशंसनीय जीवन, जो दूसरों की दया में अपना अस्तित्व रखता है! संचित हृदय कोश के अमूल्य स्तनों की उदारता और दारिद्र्य का व्यंग्यात्मक कठोर अट्टहास, दोनों की विषमता की कौन-सी व्यवस्था होगी।
 (प्रथम अंक, दृश्य : तीन)
3. सरल युवक! इस गतिशील जगत् में परिवर्तन पर आश्चर्य! परिवर्तन रुका कि महापरिवर्तन - प्रलय - हुआ! परिवर्तन ही सृष्टि है, जीवन है। स्थिर होना मृत्यु है, निश्चेष्ट शांति मरण है। प्रकृति क्रियाशील है। समय पुरुष और स्त्री की गेंद लेकर दोनों हाथ से खेलता है। पुल्लिंग और स्त्रीलिंग की समष्टि अभिव्यक्ति की कुंजी है। पुरुष उछाल दिया जाता है, उत्क्षेपण होता है। स्त्री आकर्षण करती है। यही जड़ प्रकृति का चेतन रहस्य है।
 (प्रथम अंक, दृश्य : चार)
4. युद्ध क्या गान नहीं है? रुद्र का शृंगीनाद, भैरवी का तांडव नृत्य, और शस्त्रों का वाद्य मिलकर एक भैरव-संगीत की सृष्टि होती है। जीवन के अंतिम दृश्य को जानते हुए, अपनी आंखों से देखना, जीवन-रहस्य के चरम सौंदर्य की नग्न और भयानक वास्तविकता का अनुभव - केवल सच्चे वीर-हृदय को होता है, ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का वह निरंतर संगीत है। उसे सुनने के लिए हृदय में साहस और बल एकत्र करो। अत्याचार के श्मशान में ही मंगल का - शिव का, सत्य-सुंदर संगीत का समारंभ होता है।
 (प्रथम अंक, दृश्य : सात)
5. ऐसा जीवन तो विडंबना है, जिसके लिए रात-दिन लड़ना पड़े। आकाश में जब शीतल शुभ्र शरद-शशि का विलास हो, तब भी दांत-पस-दांत रखे मुट्ठियों को बांधे - लाल आंखों से एक-दूसरे को घूरा करें! बसंत के मनोहर प्रभात में, निभृत कगारों में चुपचाप बहने वाली सरिताओं का स्रोत गरम रक्त बहाकर लाल कर दिया जाय! नहीं-नहीं, चक्र! मेरी समझ में मानव-जीवन का यही उद्देश्य नहीं है। कोई और भी निगूढ़ रहस्य है चाहे मैं स्वयं उसे न जान सका हूँ।
 (द्वितीय अंक, दृश्य : एक)

6. प्रत्येक परमाणु के मिलने में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलाने में एक लय है। मनुष्य ने अपना स्वर विकृत कर रखा है। इसी से उसका स्वर विश्ववीणा में शीघ्र नहीं मिलता। पांडित्य के मारे जब देखो, जहाँ देखो, बेताल-बेसुर बोलेगा। पक्षियों को देखो, उनकी 'चहचह', 'कलकल', 'छलछल' में, काकुली में - रागिनी है।
(द्वितीय अंक, दृश्य : एक)
7. लोहा बड़ा कठोर होता है। कभी-कभी वह लोहे को भी काट डालता है। उहूँ, भाई! मैं तो मिट्टी हूँ - मिट्टी जिसमें से सब निकलते हैं। मेरी समझ में तो मेरे शरीर की धातु मिट्टी है, जो किसी के लोभ की सामग्री नहीं, और वास्तव में उसी के लिए सब धातु अस्त्र बनकर चलते हैं, लड़ते हैं, जलते हैं, टूटते हैं, फिर मिट्टी हो जाते हैं। इसलिए मुझे मिट्टी समझो - धूल समझो।
(द्वितीय अंक, दृश्य : दो)
8. समष्टि में भी व्यक्ति रहती है। व्यक्तियों से ही जाति बनती है। विश्व-प्रेम, सर्वभूत-हित-कामना परम धर्म है, परंतु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि अपने पर प्रेम न हो, इस अपने ने क्या अन्याय किया है जो इसका बहिष्कार हो?
(द्वितीय अंक, दृश्य : पाँच)
9. यही तू भूलती है। मुझे तो इसी में सुख मिलता है। मेरा हृदय मुझसे अनुरोध करता है, मचलता है, रूठता है, मैं उसे मनाती हूँ। आंखें प्रणय-कलह, उत्पन्न कराती हैं, चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि झिड़कती है, कान कुछ सुनते ही नहीं! मैं सबको समझाती हूँ, विवाद मिटाती हूँ। सखी! फिर भी मैं इसी झगड़ालू कुटुंब में गृहस्थी संभालकर, स्वस्थ होकर बैठती हूँ।
(तृतीय अंक, दृश्य : चार)
10. तो सब गया! मेरी कल्पना के सुंदर स्वप्नों का प्रभात हो रहा है। नाचती हुई नीहास-कणिकाओं पर तीखी किरणों के भाले! ओह! सोचा था कि देवता जागेंगे, एक बार आर्यावर्त के गौरव का सूर्य चमकेगा, और पुण्य-कर्मों से समस्त पाप-पंक धोये जायेंगे, हिमालय से निकली हुई सप्तसिंधु तथा गंगा-यमुना की घाटियाँ किसी आर्य सत्गृहस्थ के स्वच्छ और पवित्र आंगन-सी, भूखी जाति के निर्वासित प्राणियों को अन्नदान देकर संतुष्ट करेंगी और आर्य जाति अपने दृढ़ सबल हाथों में शस्त्र ग्रहण करके पुण्य का पुरस्कार और पाप का विस्तार करती हुई, अचल हिमालय की भांति सिर ऊंचा किये, विश्व को सदाचरण के लिए सावधान करती रहेगी, आलस्य सिंधु में शेष पर्यकशायी सुषुप्तिनाथ जागेंगे, सिंधु में हलचल होगी, स्तनाकार से स्तराशियाँ आर्यावर्त की वेला-भूमि पर निछावर होगी।
(चतुर्थ अंक, दृश्य : तीन)
11. भारत समग्र विश्व का है, और संपूर्ण वसुंधरा इसके प्रेम-पाश में आबद्ध है। अनादि काल से ज्ञान की, मानवता की ज्योति वह विकीर्ण कर रहा है। वसुंधरा का हृदय - भारत - किस मूर्ख को प्यारा नहीं है? तुम देखते नहीं कि विश्व का सबसे ऊंचा शृङ्ग इसके सिरहाने, और गंभीर तथा विशाल समुद्र इसके चरणों के नीचे हैं? एक-से-एक सुंदर दृश्य प्रकृति ने अपने इस घर में चित्रित कर रखा है। भारत के कल्याण के लिए मेरा सर्वस्व अर्पित है।
(चतुर्थ अंक, दृश्य : चार)
12. सभी धर्म, समय और देश की स्थिति के अनुसार विवृत होते रहे हैं और होंगे। हम लोगों को हठधर्मिता से उन आगंतुक क्रमिक पूर्णता प्राप्त करने वाले ज्ञानों से मुंह न फेरना चाहिए। हम लोग एक ही मूल धर्म की दो शाखाएँ हैं। आओ, हम दोनों विचार के फूलों से दुःख दग्ध मानवों का कठोर पथ कोमल करें।
(चतुर्थ अंक, दृश्य : पाँच)

संदर्भ पुस्तकें

जयशंकर प्रसाद - आचार्य नंददुलारे वाजपेयी, भारती भंडार, इलाहाबाद।

जयशंकर प्रसाद : रमेशचंद्र शाह, साहित्य आकदमी, नई दिल्ली।

जयशंकर प्रसाद और 'स्कंदगुप्त'

प्रसाद के नाटक : सिद्धनाथ कुमार, मैकमिलन, दिल्ली

जयशंकर प्रसाद : सत्येन्द्र तनेजा, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली

प्रसाद का नाट्यकर्म : सत्येन्द्र तनेजा, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली

जयशंकर प्रसाद - रंगदृष्टि : महेश आनंद , राष्ट्रीय नाट्यविद्यालय प्रकाशन, बहावलपुर, नई दिल्ली।

राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन और प्रसाद - समकालीन सृजन : भारतीय साहित्य संस्थान, कलकत्ता।

स्कंदगुप्त : जयशंकर प्रसाद, राजकमल प्रकाशन प्रा. लिमिटेड, 1-बी नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002